



THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC

FAIR USE DECLARATION

This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.

If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.

-The TFIC Team.

‘जैनदर्शन’ : पारिभाषिक कोश’ विभिन्न शब्दकोशों की परम्परा में एक अत्यन्त छोटा सा कोश है। इसमें जैन तत्त्वज्ञान, आचार-शास्त्र, कर्मसिद्धांत, भूगोल और पौराणिक चरित्र आदि विषयों से सम्बन्धित पन्द्रह सौ शब्दों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है, जो अनेक महत्वपूर्ण और प्रामाणिक जैन ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया है।

विशालकाय कोशों की बहुमूल्य सामग्री का संचयन करने वाले इस ‘मिनी’ शब्दकोश की महत्ता और उपयोगिता जैन धर्म और दर्शन में रुचि रखने वाले सामान्य पाठकों के लिए अधिक है।

जैनदर्शन

पारिभाषिक-कोश

प्रस्तुति

मुनि क्षमासागर

मूल्य ₹ 25,

ISBN 81-7628-017-8

प्राप्ति स्थान-

- ज्ञानोदय विद्यापीठ, भोपाल (म.प्र.)
फोन (0755) 785718, 785723

- गिफ्ट गारमेंट्स
माधोगज, विदिशा (म.प्र.)
फोन (07592) 32295

मुद्रक-

बुकमेन प्रिन्टर्स

दिल्ली-92

फोन 2455684, 2051723

This book is distributed at a reduced price
with the help of few friends

अपने परम गुरु
आचार्य श्री विद्यासागरजी को
सादर समर्पित

प्राक्कथन

यह सच है कि धर्म कुछ शब्दों के अर्थ समझ लेने या कुछ क्रियाओं के दोहरा लेने से समझ में आने वाला नहीं है वह शब्दातीत है। यह भी सच है कि धर्म का रहस्य अनुभव से ही खुलता है। धर्म एक प्रयोग है वह सिर्फ विचारों का जोड़ नहीं है पर क्या करूँ शब्दातीत और अनुभवगम्य धर्म का क ख ग सीखने में शब्द मदद करते हैं और अनुभव की ऊँचाईयाँ छूने के लिए श्रेष्ठ विचारों की ठोस जमीन पर पैर टिकाना पड़ता है, सो जैनदर्शन के अनुभवी आचार्यों के द्वारा कहे गए कुछ शब्दों और उनके भावों का परिचय इस शब्द कोश में सग्रहीत करने का प्रयास कर रहा हूँ। यह कार्य बड़े धैर्य और सतत श्रुताभ्यास का है। यदि मैं अल्पज्ञता और प्रमादवश कहीं चूक गया होऊँ तो सभल लीजिएगा। कहीं कुछ छूट गया हो तो जोड़ लीजिएगा।

मेरा मन था एक छोटा-सा शब्द कोश इस तरह का हो कि उस व्यक्ति हमेशा अपने साथ रखे और समय पर तत्काल उससे लाभ ले सके। जैनदर्शन के कुछ शब्द इतने 'यूनिक' और 'टेक्नीकल' हैं कि उनका अर्थ विशेष अध्ययन के उपरान्त ही स्पष्ट हो पाता है। सामान्य पाठक कई बार जैनदर्शन का अध्ययन करते समय या धर्मोपदेश आदि सुनते समय शब्दों का अर्थ स्पष्ट न हो पाने के कारण मुश्किल का अनुभव करता

हे । उसे तत्क्षण अर्थबोध हो सके ओर अध्ययन-चितन-मनन मे आसानी हो, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह लघुतम प्रयास किया है ।

लगभग पाच-छह वर्ष तक निरन्तर चिन्तन-मनन ओर विचार-विमर्श के उपरान्त इस शब्द कोश को प्रस्तुत कर पाया हूँ । इन परिभाषाओ को जानने से यदि धर्म को समझने ओर अनुभव करने मे आसानी हो तो इसे पूर्वाचार्यों की कृपा ओर उपकार मानिएगा, मैं तो निमित्त मात्र हूँ ।

—मुनि क्षमासागर

अ

अकाम-निर्जरा—अपनी इच्छा के बिना इन्द्रिय-विषयों का त्याग करने पर तथा परवश होकर भोग-उपभोग का निरोध होने पर उसे शान्ति से सह लेना, इससे जो कर्मों की निर्जरा होती है उसे अकाम-निर्जरा कहते हैं।

अकाल-मृत्यु—विषमक्षण आदि किसी बाह्य कारण के मिलने पर समय से पहले ही आयु का क्षीण हो जाना अकाल-मृत्यु है। इसे कदलीघात-मरण भी कहते हैं।

अकृत्रिम-चैत्यालय—देखिए चैत्यालय।

अक्षमृक्षणवृत्ति—जैसे व्यापारी लोग कीमती सामान से भरी गाड़ी में साधारण सा तेल आदि चिकना पदार्थ डालकर उसे आसानी से ले जाते हैं इसी प्रकार साधु भी रत्नत्रय से युक्त शरीर रूपी गाड़ी में सरस या नीरस आहार डालकर उसे आसानी से मोक्षमार्ग पर ले जाते हैं, इसलिए साधु की यह आहारचर्या अक्षमृक्षणवृत्ति कहलाती है।

अक्षिप्र अवग्रह—वस्तु को शने शने देर से जान पाना अक्षिप्र अवग्रह है।

अक्षीण-महानस ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनि के द्वारा आहार ग्रहण कर लेने के उपरान्त उस रसोईघर में बचा शेष आहार अनगिनत लोगों को खिला देने पर भी समाप्त नहीं होता वह अक्षीण-महानस-ऋद्धि कहलाती है।

अक्षीण-महालय ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनि के समीप अल्प

स्थान में भी अनगिनत जीव सुखपूर्वक आसानी से बैठ जाते हैं वह अक्षीण-महालय-त्रिद्वि कहलाती है।

अगाढ—जिस प्रकार वृद्ध पुरुष की लाठी हाथ में रहते हुए भी कापती रहती है उसी प्रकार क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव सच्चे देव शास्त्र गुरु की श्रद्धा में स्थित रहते हुए भी सकम्प होता है और किसी विशेष जिनालय या जिनविद्य के प्रति 'यह मेरा है' या 'यह दूसरे का है'—ऐसा विचार करता है यह क्षयोपशम सम्यग्दर्शन का अगाढ टोप कहलाता है।

अगुप्ति-भय—जिसमें किसी का प्रवेश आसानी से न हो सके ऐसे स्थान में जीव निर्मय होकर रहता है लेकिन जो स्थान खुला हो वहां रहने से जीव को जो भय उत्पन्न होता है उसे अगुप्ति-भय कहते हैं।

अगुरुलघु-गुण—जिम गुण के निमित्त से द्रव्य का द्रव्यपना सदा बना रहे अर्थात् द्रव्य का कोई गुण न तो अन्य गुण रूप हो सके और न कोई द्रव्य अन्य द्रव्य रूप हो सक तथा जिसके निमित्त से प्रत्येक द्रव्य में पटगुणी हानि-वृद्धि होती रहे उसे अगुरुलघु-गुण कहते हैं। अगुरुलघु गुण का यह सूक्ष्म परिणमन वचन के अगोचर है और मात्र आगम प्रमाण से जानने योग्य है।

अगुरुलघु-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव न तो लोहपिण्ड के समान भारी होकर नीचे गिरता है और न रुई के समान हल्का होकर ऊपर उड़ता है वह अगुरुलघु-नामकर्म कहलाता है।

अगृहीत-मिथ्यात्व—जो परोपदेश के बिना मात्र मिथ्यात्व कर्म के उदय से सच्चे देव-शाम्भ-गुरु के प्रति अश्रद्धान रूप भाव होता है उसे

अगृहीत- मिथ्यात्व कहते हैं।

अग्निकाय-अग्निकायिक जीव के द्वारा छोड़ा गया शरीर अग्निकाय कहलाता है।

अग्निकायिक-अग्नि ही जिसका शरीर है उसे अग्निकायिक कहते हैं।

अग्निचारण ऋद्धि-जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु अग्निशिखा में स्थित जीवों की विराधना के बिना उन विचित्र अग्निशिखाओं पर से गमन करने में समर्थ होता है वह अग्निचारण ऋद्धि है।

अग्निजीव-जो जीव अग्निकायिक में उत्पन्न होने के लिए विग्रहगति में जा रहा है उसे अग्निजीव कहते हैं।

अग्रायणी पूर्व-जिसमें क्रियावाद आदि की प्रक्रिया और स्व-समय का विषय विवेचित है वह अग्रायणी नाम का दूसरा पूर्व है।

अघातिया-कर्म-जो जीव के अनुजीवी गुणों का घात नहीं करते, पर बाह्य शरीरादि से सर्वधित है वे अघातिया कर्म कहलाते हैं। आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय ये चार अघातिया-कर्म हैं।

अङ्ग-निमित्तज्ञान-मनुष्य व तिर्यचो के अङ्ग और उपाङ्गी को देख कर या छूकर शुभ-अशुभ और सुख-दुख आदि को जान लेना अङ्ग-निमित्तज्ञान है।

अङ्ग-प्रविष्ट-श्रुतज्ञान के आचारादि रूप एक-एक अवयव को अङ्ग कहते हैं। आचाराङ्ग आदि वारह प्रकार का श्रुतज्ञान अङ्ग-प्रविष्ट कहलाता है।

अङ्गबाह्य-महान् आचार्यों के द्वारा अल्पबुद्धि, अल्पायु और अल्पबल

वाले शिष्यों के अनुग्रह के लिए आचाराङ्ग आदि बारह अङ्गों के आधार पर रच गये संक्षिप्त ग्रंथों को अङ्गवाक्य कहते हैं।

अङ्गार-दोष-साधु यदि अत्यन्त आसक्त होकर आहार ग्रहण करे तो यह अङ्गार-दोष कहलाता है।

अङ्गोपाङ्ग नामकर्म-जिस कर्म के उदय से शरीर के अङ्ग और उपाङ्गों का भेद होता है उसे अङ्गोपाङ्ग-नामकर्म कहते हैं। यह तीन प्रकार का है-औदारिक-शरीर-अङ्गोपाङ्ग, वैक्रियिक-शरीर-अङ्गोपाङ्ग, आहारक-शरीर-अङ्गोपाङ्ग।

अचक्षुदर्शन-चक्षु इन्द्रिय को छोड़कर शेष चार इन्द्रियो और मन के द्वारा वस्तु का ज्ञान होने से पूर्व जो सामान्य प्रतिभास होता है उसे अचक्षुदर्शन कहते हैं।

अचित्त-प्राप्तक किए जाने पर जो वस्तु जीव-रहित हो जाती है उसे अचित्त कहते हैं।

अचलकत्व-वस्त्र आमृषण आदि समस्त परिग्रह का त्याग करके यथाजात नग्न दिगम्बर वालकवत् निर्विकार रूप धारण करना अचलकत्व कहलाता है। यह साधु का एक मूलगुण है।

अचोर्य-दूसरे की वस्तु को उसकी अनुमति के बिना नहीं लेना अचोर्य है।

अचौर्य-अणुव्रत-1 स्थूल चोरी का त्याग करना अचौर्य या अस्तेय-अणुव्रत कहलाता है। 2 जन साधारण के उपयोग में आने वाली मिट्टी, पानी, हवा आदि के अतिरिक्त बिना दी हुई दूसरे की

धन-संपत्ति आदि को न स्वयं लेना और न ही दूसरे को, देना
अचौर्य-अणुव्रत है।

अजितनाथ—द्वितीय तीर्थंकर। साकेत नगरी के राजा जितशत्रु और
रानी विजयसेना के पुत्र थे। इनकी आयु बहत्तर लाख वर्ष पूर्व थी।
शरीर चार सौ पचास धनुष ऊँचा और तपाये हुए स्वर्ण के समान
कान्ति वाला था। आयु का एक चौथाई भाग बीत जाने पर इन्होंने
राज्य सभाला और एक पूर्वांग तक राज्य करते रहे। एक दिन कमलवन
को खिलते व मुरझाते देख कर विरक्त हो गए और पुत्र को राज्य
देकर जिनदीक्षा ले ली। बारह वर्ष की कठिन तपस्या के बाद इन्हें
केवलज्ञान हुआ। इनके सघ में नब्बे गणधर, एक लाख मुनि, तीन
लाख बीस हजार आर्यिकाएँ, तीन लाख श्रावक व पाँच लाख
श्राविकाएँ थी। इन्होंने सम्मेदशिखर से मोक्ष प्राप्त किया।

अजीव-द्रव्य—जो चेतना-रहित है वह अजीव द्रव्य है। पुद्गल, धर्म,
अधर्म, आकाश और काल—ये पाँच अजीव-द्रव्य हैं।

अज्ञात-भाव—अज्ञानता या प्रमाद के कारण बिना जाने प्रवृत्ति करना
अज्ञात-भाव है।

अज्ञान-मिथ्यात्व—हित और अहित के विवेक से रहित होना अथवा
'पशुवध धर्म है'—इस प्रकार अहित में प्रवृत्ति कराने वाला जो उपदेश
है वह अज्ञान-मिथ्यात्व है।

अज्ञान-परीषह-जय—अत्यंत कठोर तपस्या करने के उपरांत भी
अवधिज्ञानादि विशेष ज्ञान प्राप्त न होने पर परिणामो में समता रखना
अज्ञान-परीषह-जय कहलाता है।

अटार्ड-द्वीप-जम्बूद्वीप, धातकी खड द्वीप और आधा पुष्करवर द्वीप-य मिलकर अटार्ड द्वीप है। मनुष्य का निवास ओर आवागमन इसी अटार्ड द्वीप में होता है इसलिए इसे मनुष्य-लोक भी कहते हैं। इसका विस्तार पतालीस लाख योजन है।

अणिमा ऋद्धि-शरीर को अणु के बराबर सूक्ष्म बना लेना अणिमा ऋद्धि है। यह देवों का जन्म से ही प्राप्त होती है। तपोबल से मुनियों को भी प्राप्त होती है।

अणुव्रत-हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह, इन पांच पापों का स्थूल रूप से त्याग करना अणुव्रत कहलाता है। अणुव्रत पांच है-अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचोर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रह-परिमाणव्रत।

अण्डज-जो नख की त्वचा के समान कठोर है गोल है और जिसका आवरण शुक्र और शोणित से बना है उसे अण्ड या अण्डा कहते हैं। अण्डों से उत्पन्न होने वाले जीव अण्डज कहलाते हैं।

अतदाकार-स्थापना-वास्तविक आकार से रहित किसी भी वस्तु में 'यह वही है'—ऐसी स्थापना कर लेना अतदाकार-स्थापना है। जैसे अनगढ़ पत्थर आदि में देवी-देवताओं की कल्पना कर लेना।

अतिचार-ग्रहण किए गए व्रतों में शिथिलता आना या दोष लगना अतिचार या अतिक्रम कहलाता है।

अतिथि-सयम का पालन करते हुए आहार के लिए आया हुआ साधु अतिथि कहलाता है अथवा जिसके आने की तिथि निश्चित न हो

6 / जैनदर्शन पारिभाषिक कोश

ऐसे निस्पृही सयमी साधु को अतिथि कहते हैं।

अतिथि-संविभाग—अतिथि के लिए श्रद्धा-भक्तिपूर्वक आहार व औषध आदि देना अतिथि-संविभाग नाम का शिक्षाव्रत है।

अतिशय—तीर्थकर के जन्म आदि के समय जो अलौकिक या असाधारण सुखद घटनाएँ होती हैं उन्हें अतिशय कहते हैं।

अतिशय क्षेत्र—जहाँ तीर्थकरो के पचकल्याणक हुए हैं अथवा जिस स्थान पर किसी मंदिर या मूर्ति में कोई असाधारण विशेषता है उसे अतिशय क्षेत्र कहते हैं जैसे—अतरिक्ष-पार्श्वनाथ, श्रीमहावीरजी, गोम्मटेश्वर-बाहुवली आदि।

अन्न-अवतर-अवतर—यहाँ आये, पधारें। यह पूजा के समय किया जाने वाला आवाहन है।

अत्राणभय—आत्मरक्षा में समर्थ न होने पर सुरक्षा के अभाव में जो भय उत्पन्न होता है वह अत्राणभय कहलाता है।

अदत्त-ग्रहण—श्रावक के द्वारा बिना दिया आहारादि यदि साधु ग्रहण कर ले तो यह अदत्त-ग्रहण नाम का अन्तराय है।

अदन्तधोवन—अङ्गुली, नख, दातौन आदि से दातों को घिसने का त्याग करना अदन्तधोवन व्रत कहलाता है। यह साधु का एक मूलगुण है।

अदर्शन-परीषह-जय—दीर्घकाल तक आत्म-साधना करने के उपरांत भी क्रुद्धि सिद्धि आदि प्रगट न होने पर परिणामों में समता रखना और मोक्षमार्ग के प्रति अवज्ञा का भाव नहीं लाना अदर्शन-परीषह-जय है।

अधर्म-द्रव्य—जो जीव और पुद्गल को ठहरने में सहायक होता है उसे अधर्म-द्रव्य कहते हैं। यह द्रव्य समूचे लोक में व्याप्त है। यह अचेतन और अरूपी है। इसका काय वृक्ष की छाया की तरह है जो राहगीर को ठहरने में सहायक है।

अध.कर्म—यदि साधु मन वचन काय से अपने लिए स्वयं आहार बनाए, बनवाए या बनाए गए आहार का समर्थन करे और ऐसा आहार ग्रहण कर ले तो यह अध कर्म नाम का दोष है।

अध प्रवृत्तकरण—जहां नीचे के समयवर्ती किसी जीव के परिणाम ऊपर के समयवर्ती किसी जीव के परिणामों के समान होते हैं वहां के परिणामों का नाम अध प्रवृत्तकरण है।

अधिकरण—अधिष्ठान या आधार को अधिकरण कहते हैं।

अधिगमज-सम्यग्दर्शन—बाह्य उपदेशपूर्वक जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है वह अधिगमज-सम्यग्दर्शन है।

अधोलोक—समूचा लोक तीन भागों में विभक्त है। लोक का निचला भाग अधोलोक कहलाता है। इसका आकार वेत्रासन के समान है और विस्तार सात राजू है। अधोलोक में नीचे-नीचे क्रमशः रत्नप्रभा, शर्करा-प्रभा, वालुका-प्रभा, पक्कप्रभा, धूम-प्रभा, तम-प्रभा और महातम प्रभा—ये सात पृथिविया हैं। प्रथम पृथिवी के तीन भाग हैं—खर, पक और अब्बहुल। खरभाग और पकभाग में भवनवासी तथा व्यतर देवों के आवास हैं। अब्बहुल भाग से नारकी जीवों के आवास प्रारंभ होते हैं जो विल के रूप में हैं। सातों भूमियों में कुल चौरासी लाख विल हैं। इसमें नीचे कलकला नामक पृथिवी है जहां

मात्र निगोदिया जीव रहते है ।

अध्यधिदोष—आहार के लिए साधु को आते देखकर अपनी भोजन-सामग्री में तुरत अधिक जल और चावलादि मिलाकर फिर पकाना और साधु को देना अध्यधिदोष है ।

अध्यात्म—1 समस्त रागादि विकल्पो को छोड़कर अपनी निर्मल आत्मा में आचरण करना अध्यात्म है । 2 जिस ग्रन्थ में अभेद रत्नत्रय की मुख्यता से आत्मस्वरूप का व्याख्यान किया जाता है उसे अध्यात्म शास्त्र कहते हैं ।

अध्रुव अवग्रह—1 जो यथार्थ ग्रहण निरन्तर नहीं होता वह अध्रुव-अवग्रह है । अर्थात् जैसा प्रथम समय में शब्द आदि का ज्ञान हुआ था आगे वैसा ही नहीं रह पाता, कम या अधिक होता है वह अध्रुव-अवग्रह है । 2 विजली, दीपक की लौ आदि अध्रुव या अस्थिर वस्तु का ज्ञान होना अध्रुव-अवग्रह है ।

अनगार—अगार का अर्थ गृह या घर है । अतः घर-गृहस्थी के ममत्त्व से रहित निष्परिग्रही साधु को अनगार कहते हैं ।

अनध्यवसाय—गमन करते हुए मनुष्य को जैसे पैरों में तृण आदि का स्पर्श होने पर स्पष्ट मालूम नहीं पड़ता कि 'क्या लगा' अथवा जैसे जंगल में दिशा भूल जाते हैं उसी प्रकार परस्पर सापेक्ष नयों के अनुसार वस्तु को नहीं जान पाना अनध्यवसाय या विमोह कहलाता है ।

अनन्त—निरन्तर व्यय होने पर भी जो राशि कभी समाप्त न हो उसे अनन्त कहते हैं ।

अनन्तकायिक—एक ही साधारण (कॉमन) शरीर में जो अनन्त जीव निवास करते हैं उन्हें अनन्तकायिक-जीव कहते हैं। इन सभी जीवों का जन्म, मरण, आहार और श्वासोच्छ्वास आदि सभी क्रियाएँ एक साथ होती हैं। मूली, गाजर, अदरक आदि वनस्पतियाँ अनन्तकायिक होती हैं। (देखिए निगोद)

अनन्त-चतुष्टय—चार बातों के क्षय होने पर जो अनन्त-दर्शन, अनन्त-ज्ञान, अनन्त-सुख और अनन्त-वीर्य रूप चार गुण आत्मा में प्रकट होते हैं उन्हें अनन्त-चतुष्टय कहते हैं।

अनन्त-ज्ञान—ज्ञानावरण-कर्म के क्षय होने से जो सकल चराचर को जानने वाला ज्ञान आत्मा में प्रकट होता है उसे अनन्त-ज्ञान या केवलज्ञान कहते हैं।

अनन्त-दर्शन—दर्शनावरणीय-कर्म के क्षय से जो सकल चराचर का सामान्य प्रतिभास रूप दर्शन गुण आत्मा में प्रकट होता है वह अनन्त-दर्शन या केवलदर्शन है।

अनन्तनाथ—चोदहवें तीर्थंकर। इक्ष्वाकु वंश में राजा सिंहसेन और रानी जयश्यामा के यहाँ उत्पन्न हुए। इनकी आयु तीस लाख वर्ष और ऊँचाई पचास धनुष थी। समस्त शुभ लक्षणों से युक्त इनका शरीर स्वर्ण के समान आभावान था। राज्य करते हुए पंद्रह लाख वर्ष बीत जाने पर उल्कापात देखकर ये वैराग्य को प्राप्त हुए और अपने पुत्र को राज्य देकर गृहत्याग कर दीक्षित हो गये। दो वर्ष की तपस्या के उपरान्त इन्हें केवलज्ञान हुआ। इनके समवसरण में पचास गणधर, छ्यासठ हजार मुनि, एक लाख आठ हजार आयिकाएँ, दो लाख श्रावक एवं

चार लाख श्राविकाए थीं । इन्होंने सम्मेद-शिखर से मोक्ष प्राप्त किया ।

अनन्तवीर्य—वीर्यान्तराय कर्म का क्षय हो जाने पर आत्मा मे जो अनन्त सामर्थ्य प्रकट होती है उसे अनन्तवीर्य कहते है ।

अनन्त-सुख—मोहनीय कर्म के क्षय से आत्मा मे प्रकट होने वाले अनुपम अतीन्द्रिय-सुख को अनन्तसुख कहते है ।

अनन्तानुबन्धी-कषाय—जो कषाय अनन्त ससार के कारणभूत मिथ्यात्व को बाधती है वह अनन्तानुबन्धी कषाय है । इस कषाय के उदय मे सम्यग्दर्शन उत्पन्न नही होता । यह क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चार रूपो मे होती है ।

अनर्थदण्डविरति—जीवो के द्वारा मन, वचन, काय से होने वाली ऐसी क्रिया या प्रवृत्ति जो उपकारी न होकर मात्र पाप का अर्जन कराती है अनर्थदण्ड कहलाती है, इसका त्याग कर देना अनर्थदण्डविरति नामक गुणव्रत है । अनर्थदण्ड के पाच भेद है—पापोपदेश, हिसादान, प्रमादचर्या, अपध्यान और दु श्रुति ।

अनाकाक्ष-क्रिया—अज्ञानता और आलस के कारण आगम मे कहे गये विधि-विधान का अनादर करना अनाकाक्ष-क्रिया है ।

अनाचार—ग्रहण किए गए व्रत या प्रतिज्ञा का भग होना अनाचार है ।

अनात्मभूत-लक्षण—जो वस्तु के स्वरूप मे मिला हुआ न हो, उमे अनात्मभूत-लक्षण कहते है । जैसे—टोपी पहने हुए पुरुष का लक्षण नेछी ।

अनादि-मिथ्यादृष्टि—जिस जीव ने अनादि काल से अभी तक सम्यग्दर्शन प्राप्त ही नहीं किया उसे अनादि-मिथ्यादृष्टि कहत है।

अनादेय-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से निष्प्रभ शरीर प्राप्त होता है वह अनादेय-नामकर्म है अथवा जिस कर्म के उदय से अच्छा कार्य करने पर भी गौरव प्राप्त न हो वह अनादेय-नामकर्म है।

अनाभोग-क्रिया—विना शोधन किए ओर विना देखे असावधानी पूर्वक भूमि पर सोना, उठना-बैठना आदि अनाभोग-क्रिया है।

अनायतन—सम्यग्दर्शन आदि गुणों के आधार या आश्रय को आयतन कहते हैं और इनसे विपरीत मिथ्यादर्शन आदि के आश्रय या आधार को अनायतन कहते हैं।

अनाहारक—जिन जीवों के औदारिक आदि शरीर की रचना के योग्य पुद्गल-स्कन्धों का ग्रहण नहीं होता वह अनाहारक कहलाते हैं। विग्रहगति में स्थित चारों गति के जीव केवलि समुद्घात की प्रतर ओर लोकपूरण अवस्था में स्थित सयोग-केवली, अयोग-केवली और सिद्ध भगवान—ये सब अनाहारक होते हैं।

अनि सूत अवग्रह—वस्तु के किसी एक भाग को देखकर उस वस्तु को पूर्णतः जान लेना अनि सूत अवग्रह कहलाता है। जैसे—पानी में डूबे हाथी की सूड देखकर पूरे हाथी का ज्ञान होना।

अनित्यानुप्रेक्षा—यह शरीर, इन्द्रिया और भोग-उपभोग की समस्त सामग्री क्षणभंगुर है पर मोहवश अज्ञानी जीव उसे नित्य या शाश्वत मानकर सुखी-दुखी होता रहता है। इस नश्वर शरीर आदि से ममत्व छोड़कर शाश्वत आत्मा का बार-बार चिंतन करना अनित्यानुप्रेक्षा है।

अनिबद्ध-मंगल—किसी भी ग्रंथ के प्रारंभ में ग्रंथकार के द्वारा भगवान को नमस्कार तो किया गया हो पर उसे किसी श्लोक आदि के रूप में लिपिबद्ध न किया गया हो तो यह अनिबद्ध-मंगल है।

अनिवृत्तिकरण—जिस विशिष्ट आत्म-परिणाम के द्वारा जीव मिथ्यात्व की ग्रंथि को भेदकर सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है वह अनिवृत्तिकरण कहलाता है।

अनिवृत्तिकरण-गुणस्थान—जिस गुणस्थान में विवक्षित किसी एक समय में विद्यमान सब जीवों के परिणाम परस्पर समान हो वह अनिवृत्तिकरण नामक नौवा गुणस्थान है।

अनिष्ट (अभक्ष्य)—जिनके सेवन से वात, पित्त, कफ आदि विकार उत्पन्न हो वे पदार्थ अनिष्टकर होने से अभक्ष्य है।

अनिष्टसंयोगज-आर्तध्यान—अप्रिय वस्तु या व्यक्ति के संयोग से निरंतर चिन्तित या दुखी रहना अनिष्टसंयोगज-आर्तध्यान है।

अनिसृष्ट—गृहस्वामी आहार दान की इच्छा करे और अन्य लोग मना करे तो दिया गया आहार अनिसृष्ट दोष से युक्त है।

अनिस्सरणात्मक-तैजस—जीव के औदारिक शरीर में रोनाक लाने वाला अनिस्सरणात्मक तैजस शरीर है। यह अन्न-पान आदि को पचाने में सहायक होता है और औदारिक आदि शरीर के भीतर स्थित रहता है।

अनिह्व—जिस गुरु या शास्त्र से ज्ञान प्राप्त किया है उसका नाम नहीं छिपाना अनिह्व है।

अनुकम्पा—दूसरे की पीड़ा से द्रवित हो जाना अनुकम्पा कहलाती है।

अनुक्त-विना कहे अभिप्राय मात्र से वस्तु को जान लेना अनुक्त-अवग्रह है। जैसे-वीणा के तार सभालते समय ही जान लेना कि 'इसके द्वारा यह राग बजाया जायेगा'।

अनुजीवी-गुण-द्रव्य में विद्यमान भाव रूप गुणों को अनुजीवी गुण कहते हैं, जैसे-जीव में विद्यमान ज्ञान, दर्शन, चेतना आदि गुण और पुद्गल के स्पर्श, रस, रूप आदि गुण।

अनुत्तरोपपादिक-दशाङ्ग-प्रत्येक तीर्थकर के काल में भीषण उपसर्गों को सहन करके वैमानिक देव के रूप में अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होने वाले दश-दश महामुनियों के चरित्र का जिस शास्त्र में वर्णन किया जाता है उसे अनुत्तरोपपादिक-दशाङ्ग कहते हैं।

अनुपचरित-असद्भूत व्यवहार-सश्लेष सहित वस्तुओं के सबध को बताने वाला अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय है। यह वस्तु को जानने का एक ऐसा दृष्टिकोण है जिसमें पृथक् वस्तुओं के बीच होने वाले सश्लेष सबध को दृष्टि में रखकर कथन किया जाता है जैसे 'यह जीव का शरीर है' या 'यह मेरा शरीर है'।

अनुपचरित-सद्भूत व्यवहार-शुद्ध गुण व शुद्ध गुणी में भेद का कथन करना अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय है। यह वस्तु को जानने का ऐसा दृष्टिकोण है जिसमें एक ही शुद्ध द्रव्य के आश्रित रहने वाले गुणों को उसी द्रव्य अर्थात् गुणी से भेद करके कथन किया जाता है जैसे 'केवल ज्ञान आदि जीव के गुण हैं'-ऐसा कहना।

अनुपवास-जल को छोड़कर शेष सभी प्रकार के आहार का त्याग करना अनुपवास है या गृह सबधी कार्य करते हुए जो उपवास किया

जाता है उसे भी अनुपवास कहते हैं।

अनुपसेव्य—व्यवहार-धर्म को मलिन करने वाली जो वस्तुएँ सज्जन पुरुषों के द्वारा सेवन करने योग्य नहीं हैं वे अनुपसेव्य कहलाती हैं। जैसे—गाय का मलमूत्र, लार, कफ, जूठन, शख-भस्म आदि।

अनुप्रेक्षा—1 ससार, शरीर और भोग सामग्री के स्वभाव का बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। अनित्य, अशरण, ससार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, सवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म—ये बारह अनुप्रेक्षाएँ हैं। यही बारह भावना भी कहलाती हैं। 2 जाने हुए अर्थ का मन में अभ्यास करना अनुप्रेक्षा नाम का स्वाध्याय है।

अनुभय-मन-वचन—सत्य और असत्य दोनों प्रकार के निर्णय से रहित पदार्थ को जानने या कहने में जीव के मन वचन की प्रयत्न रूप प्रवृत्ति को अनुभय-मन-वचन योग कहते हैं। जैसे—‘यह कुछ है’—ऐसा जानना या कहना।

अनुभाग-बन्ध—कर्म के फल देने की सामर्थ्य को अनुभव या अनुभाग कहते हैं। ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का जो कषायादि परिणाम जनित शुभ-अशुभ फल है वह अनुभाग बन्ध है। वह जिस कर्म का जैसा नाम है उसके अनुरूप होता है।

अनुमति त्याग-प्रतिमा—परिग्रह त्याग नामक नवमी प्रतिमा धारण करने के उपरांत अपने परिवारजनो को या अन्य जनो को सासारिक कार्यों के सबध में अनुमति अर्थात् सलाह आदि नहीं देने की प्रतिज्ञा करना, यह श्रावक की दसवीं अनुमति-त्याग-प्रतिमा कहलाती है।

तो जीव की शेष आयु का पुन दो तिहाई भाग बँत जान पर दूसरा अवसर आता है। इस प्रकार भुज्यमान आयु की समाप्ति होने तक नवीन आयु वधने के आठ अवसर होते हैं, यही अपकर्ष कहलाता है।

अपकर्षण—कर्मों की स्थिति और अनुभाग का गट जाना अपकर्षण कहलाता है।

अपध्यान—व्यर्थ ही दूसरे जीवों के प्रति बाधने-मारने रूप खोंटे विचार मन में लाना अपध्यान नाम का अनर्थदण्ड है।

अपरिग्रह—अतरंग में ममत्व-भाव का और बाह्य में धन-पैसा, स्त्री, पुत्र आदि समस्त परिग्रह का त्याग कर देना अपरिग्रह है।

अपरिणत—तिल, चावल आदि के धोंने का जल, गरम होकर उड़ा हुआ जल या हरड, लोग आदि चूर्ण से परिणत नहीं हुआ जल माघ को देना अपरिणत दोष है।

अपर्याप्तक—देखिए पर्याप्तक

अपर्याप्तनाम—जिस कर्म के उदय से जीव अपने योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण नहीं कर पाते वह अपर्याप्त नामकर्म है।

अपवाद-मार्ग—यद्यपि मोक्षमार्ग में समता-भाव की साधना ही प्रमुख है परन्तु शरीर की स्थिति बनाए रखने के लिए साधु को आहार, विहार आदि भी आवश्यक है। अतः समता-भाव की साधना में कठोर आचरण का पालन करना उत्सर्ग-मार्ग कहलाता है। उत्सर्ग-मार्ग में निवृत्ति प्रमुख है तथा विशेष परिस्थिति में शरीर की रक्षा के लिए मृदु आचरण करना अपवाद-मार्ग है। यह अपवाद-मार्ग शुद्धोपयोग

रूप उत्सर्ग-मार्ग में सहायक आहार, विहार, पठन-पाठन आदि शुभ-प्रवृत्ति रूप है।

अपाय-विचय—‘ससारी जीव मिथ्यामार्ग से कैसे बचे’—इस प्रकार निरंतर चिंतन करना अथवा जिनेन्द्र भगवान के द्वारा बताया गए सन्मार्ग का निरंतर चिंतन करना अपाय-विचय या उपाय-विचय नामक धर्मध्यान है।

अपूर्वकरण—मोहनीय कर्म का उपशम या क्षय करने वाले जीव के अन्तर्मुहूर्त तक प्रति समय जो अत्यंत विशुद्ध अपूर्व परिणाम होते हैं वह अपूर्वकरण है।

अपूर्वकरण-गुणस्थान—मोहनीय कर्म का उपशम या क्षय करके जो जीव उपशम या क्षयक श्रेणी चढ़ते हैं उस समय जिस गुणस्थान में सभी जीवों के अपूर्व परिणाम होते हैं वह अपूर्वकरण नामक आठवां गुणस्थान है।

अप्रतिघात-ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधुजन पर्वत, शिला, वृक्ष आदि के आरपार गमन करने में सक्षम होते हैं वह अप्रतिघात ऋद्धि कहलाती है।

अप्रतिष्ठित-प्रत्येक—देखिए प्रत्येक वनस्पति।

अप्रत्याख्यान-क्रिया—त्याग करने का भाव नहीं होना अप्रत्याख्यान क्रिया है।

अप्रत्याख्यानारण कषाय—जिसके उदय में जीव देशसयम अर्थात् अणुव्रत धारण नहीं कर पाता वह अप्रत्याख्यानारण कषाय कहलाती

है। यह क्रोध-मान-माया-लोभ इन चारो रूपो मे रहती है।

अप्रमत्त-संयत—जो साधु व्यक्त और अव्यक्त रूप समस्त प्रकार के प्रमाद से रहित है और रत्नत्रय से युक्त होकर निरतर आत्म-ध्यान मे लीन रहते है वे अप्रमत्त-सयत कहलाते है। अप्रमत्त-सयत के दो भेद है—स्वस्थान-अप्रमत्त और सातिशय-अप्रमत्त। जो साधु उपशम या क्षपक श्रेणी चढने के सम्मुख है वे सातिशय-अप्रमत्त सयत कहलाते है, शेष साधु स्वस्थान-अप्रमत्त-सयत कहलाते है।

अप्रशस्त-निदान—तीव्र अहकार से प्रेरित होकर अपनी तपस्या के फलस्वरूप भविष्य मे उत्तम कुल, जाति, रूप और भोग-उपभोग की कामना करना अप्रशस्त निदान कहलाता है।

अप्रशस्त-निःसरणात्मक-तैजस—वारह योजन लम्बे, नौ योजन चौडे, सूच्युगल के सख्यातवे भाग मोटे, रक्तवर्ण वाले, पृथिवी व पर्वतादि समस्त वस्तुओ को जला कर नष्ट करने मे समर्थ और साधु के बाये कन्धे से प्रगट होकर अभीष्ट स्थान तक फैलने वाले तैजस शरीर को अप्रशस्त- नि सरणात्मक-तैजस कहते है। यह अशुभ तेजस शरीर किसी कारणवश क्रोध के वशीभूत हुए तपस्वी साधु के शरीर से क्रोधाग्नि की तरह निकलता है।

अप्रशस्त-राग—भौतिक सुख-सुविधा की सामग्री के प्रति राग बढ़ाने वाली कथा या बातचीत करने मे मन लगाए रहना अप्रशस्त-राग है।

अप्रथक्-विक्रिया—अपने शरीर को सिंह, हिरण, हंस, वृक्ष आदि अनेक रूपो मे परिवर्तित करने की सामर्थ्य होना अप्रथक् या एकत्व-विक्रिया कहलाती है। यह सामर्थ्य देव व नारकी जीवो मे जन्म से ही पायी

जानी है तथा मनुष्या में तब आदि के फलस्वरूप प्राप्ति होती है।

अभ्य-जो वस्तु मनुष्या के गाने योग्य नहीं है ऐसी अवाद्य वस्तुओं को अभ्य कहते हैं। अभ्य वस्तु पांच प्रकार की है—वसवात, पमादवधरु, वज्रात, अनिष्ट, अनुपमेय।

अभयदान—शर्माभाष को मनुष्या जीव पैर दकर आश्वस्त करना अभयदान कहलाता है।

अभय-जो जमी भी मनुष्य के दृष्टा से दृष्टकर मात्र सुख प्राप्ति नहीं कर सकत ऐसे जीव अभय कहलाते हैं।

अभाव—वस्तुओं में वस्तु का सर्वथा अभाव नहीं माना गया, भावान्तर व्यवस्था रूप ही अभाव माना गया है। जैसे—मिथ्यात्व पर्याय के अभाव का सम्यग् पर्याय रूप में प्रतिभास होता है। अभाव चार प्रकार का है—प्रागभाव, प्रध्वसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव। किसी द्रव्य की वर्तमान पर्याय का पूर्व पर्याय में अभाव होना प्रागभाव है। आगामी पर्याय में वर्तमान पर्याय का अभाव होना प्रध्वसाभाव है। एक द्रव्य की एक पर्याय का उसकी दूसरी पर्याय में अभाव होना अन्योन्याभाव है। एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का अभाव होना अत्यन्ताभाव कहलाता है।

अभिनन्दन नाय—चोथे तीर्थकर। इक्ष्वाकुवंश में राजा स्वयंवर और रानी सिद्धार्थ के यहां उत्पन्न हुए। इनकी आयु पचास लाख वर्ष पूर्व और ऊंचाई तीन सौ पचास धनुष थी। समस्त शुभ लक्षणों से युक्त इनका शरीर स्वर्ण के समान आभावान था। राज्य करते हुए साढ़े छत्तीस लाख वर्ष पूर्व काल बीत जाने पर एक दिन अचानक

मेंघों का बिखरना देखकर इन्हें वैराग्य हो गया और इन्होंने जिनदीक्षा लें लीं। अठारह वर्ष की मौन तपस्या के उपरांत इन्हें केवलज्ञान हुआ। इनके समवसरण में एक सौ तीन गणधर, तीन लाख मुनि, तीन लाख तीस हजार छ सौ आर्यिकाएँ, तीन लाख श्रावक और पाँच लाख श्राविकाएँ थीं। इन्होंने सम्मदशिखर से मोक्ष प्राप्त किया।

अभिन्नदशपूर्वी—ग्यारह अङ्गों का अध्ययन पूर्ण होने के उपरांत विद्यानुवाद नामक दसवें पूर्व को पढ़ते समय महाविद्याओं के पाच मो और लघु-विद्याओं के सात सौ देवता आकर सेवक की तरह उपस्थित हो जाते हैं। उस समय किसी भी प्रलोभन में न पड़कर जो साधु दशवें पूर्व का अध्ययन पूर्ण कर लेते हैं वे अभिन्नदशपूर्वी कहलाते हैं।

अभिषेक—जिन-प्रतिमा के स्नपन या प्रक्षालन को अभिषेक कहते हैं। इगका मूल उद्देश्य अपने आत्म-परिणामों की निर्मलता है।

अभिहत—यदि एक पवित्र में स्थित तीन या सात घरों को छोड़कर अन्य किसी घर से आये हुए अन्नादि को साधु ग्रहण कर लेता है तो यह अभिहत दोष है।

अभीक्षण-ज्ञानोपयोग—अभीक्षण का अर्थ सदा या निरंतर है। जीवादि तत्त्वविषयक सम्यग्ज्ञान के अभ्यास में निरंतर लगे रहना अभीक्षण-ज्ञानोपयोग है। यह सोलह-कारण भावना में से एक भावना है।

अभोज्य-गृहप्रवेशन—यदि आहार के लिए जाते हुए साधु का चाण्डाल आदि अपवित्र जनों के घर में प्रवेश हो जाता है तो यह अभोज्य गृहप्रवेशन नामक अन्तराय है।

अमृत-दृष्टि—अमृत दृष्टि का अर्थ है यथार्थ दृष्टि । अनेक प्रकार के भन-मनान्तर में मन्य-अमन्य का निणय करके मोह रहित यथाव-दृष्टि गाना अमृत दृष्टि नामक गुण है । यह मय्यदर्शन का ११ अं १ ।

अमृत-निगम रूप, रस, गन्ध और स्पर्श—ये चाग गुण नहीं पाए जाते उन भस्म या अस्मों कहते हैं । पदुगल द्रव्य का लाडकर शेष पाच द्रव्य अमृत या अस्मों हैं ।

अमृतसायी ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु के हाथ में रखा गया रत्ना सुना आहार अमृत के समान गरस और गुणकारी हो जाता है अथवा जिसके प्रभाव से साधु के वचन अमृत के समान हितकारी हो जाते हैं उन अमृतसायी ऋद्धि कहते हैं ।

अमेध्य—यदि आहार के लिए जाते हुए साधु के पर अपवित्र मल मूत्र आदि से निम्न हो जाते हैं तो यह अमेध्य नाम का अन्तराय है ।

अयश-कीर्ति—जिस कम के उदय में किसी जीव के विद्यमान या अविद्यमान अवगुणों की चर्चा लोक में होने लगती है उसे अयश-कीर्ति-नामकर्म कहते हैं ।

अयोग-केवली-जिन—तेरहवे गुणस्थानवर्ती सयोगकेवली भगवान जब अपने जीवन के अंतिम क्षणों में विशुद्ध ध्यान के द्वारा मन-वचन-काय की समस्त क्रियाओं का निरोध कर देते हैं तब योग से रहित इस अवस्था में वे अयोग-केवली-जिन कहलाते हैं । यह अंतिम चोदहवा गुणस्थान है ।

अयोध्या—जम्बूद्वीप में आर्यखंड के कोशल देश की एक नगरी। यह नगरी सरयू नदी के किनारे इन्द्र द्वारा प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ के पिता नाभिराय और माता मरुदेवी के लिए रची गयी थी। सुकोशल देश में स्थित होने से इसे सुकोशला और विनीत लोगों की निवासस्थली होने से इसे विनीता भी कहा गया है। इसके सुयोजित निर्माण कोशल के कारण इसे शत्रु जीत नहीं सकते थे इसलिए इसे अयोध्या कहा गया। सुंदर भवनो के निर्माण के कारण इसे साकेत भी कहा जाता था। यह नौ योजन चौड़ी, बारह योजन लम्बी और अड़तालीस योजन विस्तार वाली थी। सभी तीर्थंकर सामान्यतः अयोध्या में ही जन्म लेते हैं परन्तु काल के प्रभाव से वर्तमान चौबीसी में कुछ तीर्थंकरों का जन्म अन्यत्र भी हुआ।

अरति—जिस कर्म के उदय में देश, काल आदि के प्रति उत्सुकता नहीं होती है उसे अरति कहते हैं।

अरति-परीषह-जय—जो साधु विषय-भोग की सामग्री के प्रति उदासीन है, जो गीत, नृत्य वादित्र आदि से रहित अप्रिय लगने वाले शिला गुफा आदि स्थानों में रहकर भी ध्यान अध्ययन में लीन है और देखे, सुने, अनुभव में आए भोगों का स्मरण आने पर भी समता भाव रखते हैं उनके यह अरति-परीषह-जय है।

अरनाथ—अठारहवें तीर्थंकर एव सातवें चक्रवर्ती। सोमवशी राजा सुदर्शन और रानी मित्रसेना के यहां जन्म लिया। इनकी आयु चौरासी हजार वर्ष थी। शरीर तीस धनुष ऊँचा और स्वर्ण के समान आभा वाला था। चक्रवर्ती होने के कारण इनके छयानवें हजार रानियाँ और

त्रिपुल्ल वधव था। शत्रु-क्रुतु के मना का अकस्मात् विलय होते देखकर
 दुर्ग वेगवत् हुआ और अपने पुत्र को राज्य देकर इन्होंने जिनदीक्षा
 ली। मानव वध हो मटिन तपस्या के उपरान्त इन्हें केवलज्ञान
 हुआ। इनके मन्त्रमग्न में नौस गणधर, पचास हजार मुनि, साठ हजार
 आदिमान, एक लाख माठ हजार श्रावक एवं तीन लाख श्राविकाएँ
 थीं। उन्होंने मम्मद-शिष्य में मोक्ष प्राप्त किया।

अव-पयाय-जो मृत है, शब्दों के हाग नहीं कर्ण जा सकती और
 जा क्षण-क्षण में बदलती है वह अव-पयाय है। यह प्रत्येक द्रव्य में
 प्रतिक्षण होती रहती है।

अर्थ-समय-कथन के निमित्त न ज्ञात हुए समस्त पदार्थों के समूह
 को अव-समय कहते हैं।

अर्थ-सम्यग्दर्शन-आगम को पढ़े बिना ही उसमें प्रतिपादित अर्थ या
 भाव को जानकर जा सम्यग्दर्शन होता है उस अर्थ-सम्यग्दर्शन
 कहते हैं।

अर्थाचार-शास्त्र में कह गए अनेकात स्वरूप को ठीक-ठीक समझना
 अर्थाचार या अर्थ शुद्धि है।

अर्थावग्रह-देखिए अवग्रह।

अर्द्धनाराच-सहनन-जिस कर्म के उदय से शरीर में हड्डियों की संधियाँ
 परस्पर नाराच अर्थात् कील के द्वारा आधी ही जुड़ी होती हैं वह
 अर्द्ध-नाराच सहनन नामकर्म कहलाता है।

अर्द्ध-पुद्गल-परावर्तन-देखिए द्रव्य-परिवर्तन

अर्हन्त—जो वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी है वे अर्हन्त परमेष्ठी कहलाते हैं। अर्हन्त परमेष्ठी तीन लोक में पूज्य होते हैं।

अर्हद्-भक्ति—अर्हन्त भगवान के प्रति जो गुणानुराग रूप भक्ति होती है वह अर्हद्-भक्ति कहलाती है। अथवा अर्हन्त भगवान के द्वारा कहे गए धर्म के अनुरूप आचरण करना अर्हद्-भक्ति कहलाती है। यह सोलह कारण भावना में एक भावना है।

अलाभ-परीषह-जय—जो साधु कई दिनों तक आहार प्राप्त न होने पर अलाभ की स्थिति में भी समता-पूर्वक ध्यान-अध्ययन में लीन रहते हैं और अलाभ की स्थिति को कर्मनिर्जरा का कारण मानकर सतोष धारण करते हैं उनके यह अलाभ-परीषह-जय है।

अलोक—लोकाकाश के बाहर सब ओर जो अनन्त आकाश है उसे अलोक या अलोकाकाश कहते हैं। अलोकाकाश में एकमात्र आकाश द्रव्य है शेष पांच द्रव्य नहीं हैं।

अल्पबहुत्व—परस्पर हीनाधिकता को अल्पबहुत्व कहते हैं। जैसे—‘यह इसकी अपेक्षा अल्प है’ और ‘यह अधिक है’ इत्यादि। इसके द्वारा क्षेत्रादि की अपेक्षा भेद को प्राप्त हुए जीव आदि की परस्पर संख्या विशेष को जाना जाता है।

अवगाढ सम्यग्दर्शन—द्वादशांग के साथ अङ्ग-बाह्य का अध्ययन करके जो दृढ सम्यग्दर्शन होता है उसे अवगाढ सम्यग्दर्शन कहते हैं।

अवगाहन—सभी द्रव्यों को अवकाश (स्थान) देना, यह आकाश का अवगाहन गुण है।

अवगाहना—1 जीवो के शरीर की ऊर्चाई, लम्बाई आदि को अवगाहना कहते हैं। 2 आत्मप्रदेश में व्याप्त करके रहना अवगाहना है। यह दो प्रकार की है—जघन्य और उत्कृष्ट। जैसे—कर्मभूमि के मनुष्य की जघन्य अवगाहना 3½ हाथ और उत्कृष्ट 525 धनुष।

अवग्रह—इन्द्रिय और पदार्थ का संबन्ध होने पर जो पदार्थ का प्रथम ग्रहण या ज्ञान होता है वह अवग्रह कहलाता है। जैसे—आख के द्वारा 'यह सफेद है' ऐसा ज्ञान होना। अवग्रह दो प्रकार का है—व्यजनावग्रह और अर्थावग्रह। व्यक्त ग्रहण से पहले-पहले व्यजनावग्रह होता है और व्यक्त ग्रहण का नाम अर्थावग्रह है। जैसे—माटी का नया घड़ा जल की दो तीन बूंदें सींचने पर गीला नहीं होता और पुनः पुनः सींचने पर धीरे-धीरे गीला हो जाता है इसी प्रकार श्रोत्र आदि इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण किए गए शब्द आदि पहले व्यक्त नहीं होते किन्तु पुनः पुनः ग्रहण होने पर व्यक्त हो जाते हैं। व्यजनावग्रह इन्द्रियों के ग्रहण करने के योग्य क्षेत्र में पदार्थ के स्थित होने पर ही होता है अतः चक्षुः और मन से नहीं होता, शेष चारों इन्द्रियों से होता है। अर्थावग्रह पाचों इन्द्रिय और मन के द्वारा होता है।

अवधिज्ञान—जो द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि की सीमा में रहकर मात्र रूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है वह अवधिज्ञान है। अवधिज्ञान के तीन भेद हैं—देशावधि, सर्वावधि और परमावधि। देशावधि के अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित—ऐसे छह भेद हैं। देशावधि-ज्ञान भव-प्रत्यय और गुण-प्रत्यय दोनों प्रकार का होता है। सर्वावधि और परमावधि यह दोनों गुण-प्रत्यय हैं।

अवधिदर्शन—अवधिज्ञान से पहले जो रूपी पदार्थों का सामान्य

प्रतिभास होता है उसे अवधिदर्शन कहते हैं।

अवमौदर्य—जो जिसका स्वाभाविक आहार है उससे कम आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करना अवमौदर्य-तप है।

अवर्णवाद—गुणवान बड़े पुरुषों में जो दोष नहीं हैं उन मिथ्या दोषों को उनमें दिखाना अवर्णवाद कहलाता है। केवली, श्रुत, सध, धर्म और देवों का अवर्णवाद—यह पांच प्रकार का अवर्णवाद है।

अवसन्न—जैसे कीचड़ में फसे हुए और मार्गभ्रष्ट पथिक को अवसन्न कहते हैं वैसे ही ज्ञान और आचरण से भ्रष्ट मुनि को अवसन्न कहते हैं।

अवसर्पिणी—जिस काल में जीवों की आयु, बल और ऊँचाई आदि क्रम-क्रम से घटते जाते हैं उसे अवसर्पिणी काल कहते हैं। इसके सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दुषमा, दुषमा-सुषमा, दुषमा और दुषमा-दुषमा—ऐसे छह भेद हैं। इन्हें पहले, दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें और छठे काल के नाम से भी जाना जाता है।

अवाय—विशेष निर्णय द्वारा वस्तु का जो यथार्थ ज्ञान होता है उसे अवाय कहते हैं। जैसे—पत्थरों के उठने गिरने आदि को देखकर 'यह वगुल्लो की पक्ति है ध्वजा नहीं है'—ऐसा निर्णय करना।

अविनेय—जिसमें सच्चे धर्म को सुनने व ग्रहण करने का गुण नहीं है वह अविनेय है।

अविपाक-निर्जरा—जिस प्रकार आम, केला आदि को अधिक उष्ण देकर समय से पहले पका लिया जाता है उसी प्रकार कर्म को तप आदि के द्वारा समय से पहले अनुभव में ले लिया जाता है यह अविपाक

निर्जरा है। अविपाक निर्जरा सम्यग्दृष्टि व्रती के ही होती है।

अविभाग-प्रतिच्छेद—शक्ति अश को अविभाग-प्रतिच्छेद कहते हैं। यह जड व चेतन सभी द्रव्यो में देखे जाते हैं। जैसे—सबसे कम अनुभाग से युक्त परमाणु के किसी एक गुण को बुद्धि के द्वारा ग्रहण करके तब तक छेद दिया जाए जब तक कि उससे आगे और विभाग न हो सके, इस विभाग-रहित अश को अविभागी-प्रतिच्छेद कहते हैं।

अविरत-सम्यग्दृष्टि—जो व्रत आदि से रहित है किन्तु सच्चे देव-शास्त्र-गुरु पर श्रद्धा रखता है वह चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव अविरत-सम्यग्दृष्टि है।

अविरति—व्रतो को धारण न करना अविरत है। या अव्रत रूप विकारी परिणाम का नाम अविरति है। पाच स्थावर और त्रस इन छह प्रकार के जीवों की दया न करने से और पाच इन्द्रिय व मन के विषयों से विरक्त न होने से अविरति बारह प्रकार की है।

अशरणानुप्रेक्षा—मत्र, तत्र, औषध आदि कोई भी मरण के समय प्राणी की रक्षा नहीं कर सकते, अमर कहे जाने वाले स्वर्ग के देव भी आयु समाप्त होने पर मरण को प्राप्त होते हैं। इस ससार में जन्म और मरण के दुखों से यदि कोई बचा सकता है तो वह एक मात्र वीतराग-धर्म है, धर्म की शरण ही श्रेष्ठ है, शेष कोई शरण नहीं है, इस प्रकार बार-बार चिन्तन करना अशरण-अनुप्रेक्षा है।

अशुचित्व-अनुप्रेक्षा—यह शरीर अत्यन्त अपवित्र है, स्नान और अन्य सुगंधित पदार्थों से भी इसकी अशुचिता अर्थात् मलिनता को दूर कर पाना संभव नहीं है किन्तु यदि जीव चाहे तो रत्नत्रय की भावना के

द्वारा शरीर से भिन्न अपनी आत्मा की शुचिता को प्रगट कर सकता है, इस प्रकार बार-बार चिन्तन करना अशुचित्व-अनुप्रेक्षा है।

अशुभ तैजस—देखिए अप्रशस्त नि सरणात्मक तैजस।

अशुभ-नामकर्म—देखिए शुभ नामकर्म।

अशुभोपयोग—जिसका उपयोग विषय-कषाय में मग्न है, कुश्रुति, कुविचार और कुसगति में लगा हुआ है, उग्र है और उन्मार्गगामी है उसके यह अशुभोपयोग है।

अश्रुपात—आहार के समय पीडावश साधु के आसु आ जाने पर या किसी कारण से दाता के आसु आने पर अश्रुपात नामक अन्तराय होता है।

अष्ट-द्रव्य—उत्तम जल, चन्दन, अखण्डित चावल, सुगंधित पुष्प, नैवेद्य, सुगंधित धूप, दीप और फल—ये पूजा के अष्टद्रव्य कहलाते हैं।

अष्टम-पृथिवी—लोक के शिखर पर एक राजु चौड़ी, सात राजु लम्बी और आठ योजन ऊँची अष्टम पृथिवी है। इसके मध्य में अत्यंत उज्ज्वल छत्र के समान ईषतप्राग्भार नाम का क्षेत्र है जिसका विस्तार मनुष्य लोक के बराबर है। यह सिद्धो का आवास स्थान है और अष्टम-पृथिवी से 7050 धनुष ऊपर स्थित है।

अष्ट-मंगल-द्रव्य—छत्र, चमर, ध्वजा, झारी, कलश, ठौना, दर्पण और वीजना—ये आठ मांगलिक द्रव्य हैं जिनसे पाण्डुकशिला और समवसरण के गौपुर शोभित होते रहते हैं।

अष्टमूलगुण—1 मद्य, मधु और मास का त्याग करना और पाच अणुव्रतों का पालन करना—ये श्रावक के अष्टमूलगुण हे। 2 मद्य, मधु, मास और पाच उदुम्बर फलों का त्याग करना यह श्रावक के अष्टमूलगुण हे। 3 मद्य, मधु, मास का त्याग, रात्रि-भोजन व उदुम्बर फलों का त्याग तथा देवदर्शन, जीव-दया और जलगालन—ये आठ श्रावक के मूलगुण माने गये हे।

अष्टाङ्ग-निमित्तज्ञान—दखिए निमित्तज्ञान।

अष्टापद—यह कैलाश पर्वत का दूसरा नाम है। यह भगवान ऋषभदेव की निर्वाणभूमि हे। इस पर्वत पर सगर चक्रवर्ती के साठ हजार पुत्रों ने स्वर्णमय जिनालय बनाने के लिए दण्डरत्न से आठ पादस्थान बनाकर इसकी भूमि खोदना प्रारम्भ किया था इसलिए इसका नाम अष्टापद प्रसिद्ध हुआ।

अष्टाह्निक-पूजा—देवों के द्वारा नन्दीश्वर-द्वीप में प्रत्येक वर्ष आषाढ, कार्तिक और फाल्गुन मास में अष्टमी से लेकर पूर्णिमा तक आठ दिन निरन्तर भक्तिपूर्वक जो जिनेन्द्र प्रतिमाओं की पूजा की जाती हे, उसे अष्टाह्निक-पूजा कहते हैं।

असत्य-मन-वचन—असत्य पदार्थ जैसे मरीचिका का जल आदि के विषय में जानने या कहने में जीव के मन और वचन की प्रयत्न रूप प्रवृत्ति को असत्य-मन-वचन योग कहते हैं।

असद्भूत-व्यवहार-नय—भिन्न वस्तुओं के बीच सबध को वताने वाला असद्भूत व्यवहार नय है। जैसे—कर्म के निमित्त से होने वाली मनुष्यादि पर्याये, रागादि विकारी भाव और बाह्य वस्तुओं से सबध

का कथन करना असद्भूत व्यवहार नय का विषय है। इसके दो भेद है—अनुपचरित असद्भूत और उपचरित असद्भूत।

असंख्यात—गणनातीत राशि असख्यात कहलाती है।

असंज्ञी—बिना मन वाले जीव असंज्ञी कहलाते हैं। ये शिक्षा, उपदेश आदि ग्रहण करने में असमर्थ होते हैं। असंज्ञी, असैनी और अमनस्क ये एकार्थवाची हैं।

असंप्राप्तासृपाटिका-सहनन—जिस कर्म के उदय से शरीर में हड्डियाँ परस्पर मात्र नसों के द्वारा जुड़ी रहती हैं वह असंप्राप्तासृपाटिका-सहनन नामकर्म कहलाता है।

असातावेदनीय—जिस कर्म के उदय में जीव अनेक प्रकार के दुःख का वेदन करता है उसे असातावेदनीय-कर्म कहते हैं।

अस्तिकाय—जो बहुप्रदेशी है वे अस्तिकाय कहलाते हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश—ये पाँच अस्तिकाय हैं।

अस्तित्व—प्रत्येक द्रव्य की अनादि-अनन्त सत्ता ही उसका अस्तित्व गुण है। यह द्रव्य का सामान्य गुण है।

अस्तिनास्ति-प्रवाद-पूर्व—जिसमें पाँच अस्तिकायों का और विविध नयों का अस्ति, नास्ति आदि अनेक पर्यायों के द्वारा वर्णन किया गया है वह अस्ति-नास्ति-प्रवाद-पूर्व नाम का चौथा पूर्व है।

अस्थिर-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से थोड़ी भी भूख-प्यास की बाधा होने पर तथा सर्दी या गर्मी की अधिकता होने पर शरीर में दुर्बलता का अनुभव होता है उसे अस्थिर-नामकर्म कहते हैं।

अस्नान-व्रत—जीवन भर स्नान न करने की प्रतिज्ञा लेना अस्नान-व्रत है। यह साधु का एक मूलगुण है।

अहिंसा—मन, वचन, काय से किसी भी जीव को नहीं मारना अहिंसा है।

अहिंसाणुव्रत—स्थूल या सकल्पी हिंसा का त्याग करना अहिंसाणुव्रत है।

आ

आकस्मिक-भय—अचानक आ जाने वाली विपत्ति की आशका से जीवों को जो भय उत्पन्न होता है वह आकस्मिक-भय है।

आकाश द्रव्य—जो समस्त द्रव्यों को अवकाश अर्थात् स्थान देता है उसे आकाश द्रव्य कहते हैं। इसके दो भेद हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश।

आकाशगता-चूलिका—आकाश में गमन करने की विद्या एव जप तप आदि का वर्णन करने वाली चूलिका को आकाशगता चूलिका कहते हैं।

आकाशगामित्व ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु सुखासन से बैठे-बैठे या खड़े रहकर बिना डग भरे आकाश में गमन कर सकते हैं उसे आकाशगामित्व या आकाशगामिनी-ऋद्धि कहते हैं।

आकाश-चारण ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु, जीवों को बाधा न पहुँचे इस तरह चलते हुए भूमि से चार अङ्गुल ऊपर आकाश में गमन कर सकते हैं उसे आकाश-चारण ऋद्धि कहते हैं।

आकिञ्चन्य धर्म—समस्त परिग्रह का त्याग करके 'कुछ भी मेरा नहीं है'—इस प्रकार का निर्लोभ भाव रखना आकिञ्चन्य धर्म है।

आक्रोश-परीषह-जय-क्रोध बढ़ाने वाले, अत्यंत अपमानजनक, कर्कश और निन्दनीय वचनों को सुन कर जो साधु विचलित नहीं होते और सामर्थ्यवान होकर भी उसे शान्त-भाव से सहन करते हैं

उनके यह आक्रोश-परीषह-जय है।

आक्षेपिणी कथा—जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कहे गए तत्त्वों का कथन करने वाली आक्षेपिणी कथा है।

आगम—जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे गए हितकारी वचन ही आगम है। आगम, सिद्धान्त और प्रवचन—ये एकार्थवाची हैं।

आग्नेयी-धारणा—पार्थिवी-धारणा के उपरांत योगी निश्चल अभ्यास से अपने नाभि-मंडल में सोलह पत्तों से युक्त कमल का ध्यान करे फिर उस कमल की कर्णिका में महामन्त्र हूं का तथा सोलह पत्तों पर अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ए ऐ ओ औ अ अ —इन सोलह अक्षरों का ध्यान करे, फिर महामन्त्र हूं की रेफ से मद-मद निकलती धुएँ की शिखा का विचार करे, फिर निकलती हुई चिनगारियों और अग्नि की लपटों का चिन्तन करे। फिर योगी मुनि अपने हृदय में स्थित आठ पत्तों के कमल पर लिखे आठ कर्मों को उस अग्नि की ज्वाला में निरंतर जलता हुआ चिंतन करे। उस कमल के जलने के उपरांत शरीर के बाह्य में चारों ओर त्रिकोण अग्नि का चिन्तन करे। यह बाहर का अग्निमंडल अंतरंग की मन्त्राग्नि को जलाता है और उस नाभिकमल और शरीर को नष्ट करके धीरे-धीरे शांत हो जाता है। ऐसा चिन्तन करना आग्नेयी धारणा है।

आचाम्ल—काजी या माड़ सहित केवल भात के आहार को आचाम्ल कहते हैं।

आचाराङ्ग—जिसमें पाच समिति, तीन गुप्ति आदि रूप मुनिचर्या का वर्णन किया गया है वह आचाराङ्ग है।

आचार्य-1 जो स्वयं साधु के योग्य आचरण करते हैं और अन्य साधुओं से भी यथायोग्य आचरण कराते हैं वे आचार्य हैं। 2 साधुओं को शिक्षा-दीक्षा देने वाले, उनके दोषों का निवारण करने वाले तथा अनेक विशिष्ट गुणों से युक्त सघनायक साधु को आचार्य कहते हैं।

आचार्य-भक्ति-आचार्यों के प्रति जो गुणानुराग रूप भक्ति होती है उसे आचार्य-भक्ति कहते हैं। यह सोलह कारण भावना में एक भावना है।

अच्छेद्य-दोष-राजा, मंत्री आदि का भय दिखाकर यदि साधु आहार प्राप्त करे तो यह अच्छेद्य नाम का दोष है।

आजीव दोष-अपनी जाति, कुल आदि की विशेषता बताकर यदि साधु आहार प्राप्त करे तो यह आजीव नाम का दोष है।

आज्ञाविचय-'जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रतिपादित आगम ही सत्य है'-ऐसा चिन्तन करना अथवा जिनवाणी को प्रमाण मानकर सात तत्त्व, छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय आदि के स्वरूप का विचार करना आज्ञाविचय नाम का धर्मध्यान है।

आज्ञा-व्यापादिकी-क्रिया-शास्त्रोक्त आज्ञा का पालन न कर सकने के कारण उसका अन्यथा प्ररूपण करना आज्ञा-व्यापादिकी-क्रिया है।

आज्ञा-सम्यग्दर्शन-जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा को प्रधान मानकर जो सम्यग्दर्शन होता है उसे आज्ञा-सम्यग्दर्शन कहते हैं।

आतप-जो सूर्य आदि के निमित्त से उष्ण प्रकाश होता है उसे आतप कहते हैं।

आतप-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से शरीर में आतप उत्पन्न होता है वह आतप नामकर्म है। सूर्य के विमान आदि में तथा सूर्यकान्त मणि आदि पृथिवीकाय में आतप जानना चाहिए। अग्नि मूलतः उष्ण होती है परंतु आतप-नामकर्म के उदय से सूर्य के बिंब आदि मूलतः शीतल होते हैं मात्र किरणें उष्ण होती हैं।

आत्म-प्रवाद—जिसमें आत्म द्रव्य का और छह प्रकार के जीव समूहों का अस्ति-नास्ति आदि विभिन्न प्रकार से निरूपण किया गया है वह आत्म-प्रवाद पूर्व नाम का आठवां पूर्व है।

आत्मभूत लक्षण—जो वस्तु के स्वरूप में निहित हो अर्थात् उससे पृथक् न किया जा सके उसे आत्मभूत-लक्षण कहते हैं। जैसे—अग्नि में उष्णता या जीव में चेतना।

आत्मा—जो यथासंभव ज्ञान, दर्शन, सुख आदि गुणों में वर्तता या परिणमन करता है वह आत्मा है। आत्मा की तीन अवस्थाएँ हैं—बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा।

आदान-निक्षेपण-समिति—पुस्तक, पीछी, कमण्डलु आदि उपकरण जो ज्ञान व सयम में सहायक हैं उन्हें देखभालकर और शोधन करके रखना तथा उठाना आदान-निक्षेपण समिति है। यह साधु का एक मूलगुण है।

आदिनाथ—युग के प्रारंभ में हुए प्रथम तीर्थंकर। ये कुलकर नाभिराय और उनकी रानी मरुदेवी के पुत्र थे। अयोध्या इनकी जन्मभूमि और राजधानी थी। इनका शरीर स्वर्ण की तरह आभावान और पाँच सौ धनुष ऊँचा था। चक्रवर्ती भरत और कामदेव बाहुबली इनके पुत्र

थे। ब्राह्मी और सुदरी इनकी बेटिया थीं। कर्मभूमि के प्रारम्भ में प्रजा को अहिंसा-प्रधान जीवन-पद्धति सिखलाने के अभिप्राय से इन्होंने असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प इन षट्कर्मों का उपदेश दिया। इनकी आयु चौरासी लाख वर्ष पूर्व थी। बीस लाख वर्ष पूर्व का समय कुमार अवस्था में व्यतीत करके तिरैसठ लाख वर्ष पूर्व काल तक राज्य किया और एक दिन स्वर्ग की देवी नीलाजना का राजदरवार में नृत्य करते-करते अकस्मात् मरण होता देखकर ससार से विरक्त हो गए। जिनदीक्षा लेकर छ माह तक ध्यानस्थ रहे फिर छ माह तक साधु के योग्य आहार-विधि जानने वालों का अभाव होने से आहार का योग नहीं लगा, इस तरह एक वर्ष तक निराहार रहने के उपरांत राजा श्रेयास के यहां प्रथम आहार हुआ। एक हजार वर्ष की कठिन तपस्या के उपरांत केवलज्ञान प्राप्त हुआ और समवसरण में सभी जीवों का कल्याण करने वाली दिव्य-ध्वनि खिरने लगी। आपके चतुर्विध सघ में चौरासी गणधर, बीस हजार केवलज्ञानी, बीस हजार छ सौ विक्रिया-ऋद्धिधारी, इतने ही विपुलमति मन पर्यय ज्ञानी और अन्य मुनि थे, पचास हजार आर्यिकाएँ, तीन लाख श्रावक और पाच लाख श्राविकाएँ थीं। आपने कैलाश पर्वत से मोक्ष प्राप्त किया।

आदेय-नामकर्म—1 जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर प्रभायुक्त होता है उसे आदेय-नामकर्म कहते हैं। 2. जिस कर्म के उदय से जीव के बहुमान्यता उत्पन्न होती है वह आदेय नामकर्म कहलाता है।

आधिकरणिकी क्रिया—हिंसा के साधनों या उपकरणों को ग्रहण करना आधिकरणिकी क्रिया है।

आनुपूर्वी-नामकर्म-जिस कर्म के उदय से एक गति से दूसरी गति में जाते हुए जीव के पूर्व शरीर का आकार नष्ट नहीं होता है वह आनुपूर्वी नामकर्म है। आनुपूर्वी नामकर्म के उदय से ही जीव का अपनी इच्छित गति में गमन होता है। यह चार प्रकार का है-नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, मनुष्यगत्यानुपूर्वी और देवगत्यानुपूर्वी।

आप्त-वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी अर्हन्त-भगवान् आप्त कहलाते हैं।

आवाधा-कर्म का बन्ध होने के पश्चात् वह तुरन्त ही उदय में नहीं आता बल्कि कुछ समय बाद परिपक्व होकर उदय में आता है। अतः जीव के साथ वधे हुए कर्म जितने काल तक उदय या उदीरणा के योग्य नहीं होते उस काल को आवाधा कहते हैं। आयु कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की एक कोड़ाकोड़ा सागर की स्थिति होने पर आवाधा सौ वर्ष की होती है।

आभ्यन्तर-तप-जिससे मन का नियमन हो वह आभ्यन्तर-तप है। प्रायश्चित्त, विनय, वेयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग-ये छह आभ्यन्तर-तप हैं।

आमर्ष-औषधि-ऋद्धि-जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु के स्पर्श मात्र से जीव निरोगी हो जाते हैं उसे आमर्ष-औषधि-ऋद्धि कहते हैं।

आम्नाय-उच्चारण की शुद्धिपूर्वक पाठ को पुनः पुनः दुहराना आम्नाय नाम का स्वाध्याय है।

आयतन-सम्यग्दर्शन आदि गुणों के आधार या आश्रय को आयतन कहते हैं। सच्चे देव, शास्त्र, गुरु और इन तीनों के उपासक-ऐसे

छह आयतन है।

आयु-कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव मनुष्य आदि भव धारण करता है उसे आयु-कर्म कहते हैं। नरकायु, तिर्यचायु, देवायु और मनुष्यायु—ये चार भेद आयुकर्म के हैं।

आरम्भ—1 जीवों को पीडा पहुचाने वाली प्रवृत्ति करना आरम्भ है।

2 कार्य करने लगना सो आरम्भ है।

आरम्भ-त्याग-प्रतिमा—सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण करने के उपरांत जीवन पर्यन्त नौकरी, खेती, व्यापारादि आरम्भ नहीं करने की प्रतिज्ञा लेना, यह श्रावक की आरम्भ-त्याग नामक आठवीं प्रतिमा है।

आरम्भी-हिंसा—गृहस्थी सवधी कार्य करने में जो हिंसा होती है उसे आरम्भी-हिंसा कहते हैं।

आराधना—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चारों का यथायोग्य रीति से उद्योतन करना, इन्हें दृढतापूर्वक धारण करना, इनके मद पड़ जाने पर पुन पुन जागृत करना और इनका जीवन भर पालन करना आराधना कहलाती है।

आर्जव-धर्म—1 कुटिल भाव को छोड़कर सरल हृदय से आचरण करना आर्जव-धर्म कहलाता है। 2 मन, वचन और काय की ऋजुता अर्थात् सरलता का नाम आर्जव है।

आर्तध्यान—इष्ट वियोग आदि के निमित्त से निरन्तर पीडा या दुख रूप परिणाम होना आर्तध्यान है। यह चार प्रकार का है—इष्टवियोगज, अनिष्ट सयोगज, वेदना ओर निदान।

के जिस परिणाम या भाव से सूक्ष्म पुद्गल परमाणु कर्म रूप होकर आत्मा मे आते है उस परिणाम या भाव को भावास्रव कहते है और सूक्ष्म कर्म रूप पुद्गलो का आना द्रव्यास्रव कहलाता है। साम्प्रायिक आस्रव और ईर्यापथ आस्रव ऐसे दो भेद भी आस्रव के है।

आस्रव-अनुप्रेक्षा—आत्मा मे निरतर होने वाला कर्मो का आस्रव ससार को बढाने वाला और दुख रूप हे तथा इन्द्रिय, कषाय और असयम रूप होने से अहितकर है। इस प्रकार आस्रव के दोषो का बार-बार चिन्तन करना आस्रवानुप्रेक्षा है।

आहार-दान—श्रद्धा-भक्तिपूर्वक प्रासुक अन्न आदि आहार सुपात्र को देना आहार-दान कहलाता है।

आहारक—जो जीव औदारिक आदि तीन शरीरो मे से उदय को प्राप्त किसी एक शरीर के योग्य पुद्गलो का ग्रहण करता हे वह आहारक कहलाता है।

आहारक-शरीर—छठवे गुणस्थानवर्ती प्रमत्त सयत साधु सूक्ष्म तत्त्व के विषय मे जिज्ञासा होने पर जिस शरीर के द्वारा केवली भगवान के पास जाकर जिज्ञासा का समाधान करते हैं उसे आहारक-शरीर कहते है।

आहारक-समुद्घात—सूक्ष्म तत्त्व के विषय मे जिसे कुछ जिज्ञासा उत्पन्न हुई हे उन परम ऋषि के मस्तक मे से मूल शरीर से सपर्क वनाए रखकर एक हाथ ऊचा सफंद रग का सर्वांग सुदर पुतला निकलकर अतर्मुहूर्त मे जहा कहीं श्री केवली भगवान को देखता हे वहा जाकर उनके दर्शन मात्र से ऋषि की जिज्ञासा का समाधान पाकर

पुन अपने स्थान मे लौट आता है इसे आहारक- समुद्घात कहते है ।

आहार-सज्ञा—अन्नादि आहार ग्रहण करने की इच्छा होना आहार-सज्ञा है ।

आह्वानन—आमन्त्रण । भावो की एकाग्रता के लिए पूजा के प्रारंभ मे जिनेन्द्र भगवान को हृदय मे आमन्त्रित करते है, उसी के प्रतीक रूप पुष्पक्षेपण करना आह्वानन कहलाता है ।

इ

इडिगनी-मरण—शाम्ब मे कही गई विधि के अनुरूप क्रमश आहार का त्याग करके स्वाश्रित रहकर दूसरे के द्वारा वेषावृत्ति आदि नहीं करात हुए जो समाधि ली जाती है वह इडिगनी-मरण नामक सल्लाखना है। इस प्रकार की सल्लाखना लेने वाले साधु उत्तम सारनन के धारो होते है।

इच्छाकार—ऐलक, शुल्लक आदि उन्कृष्ट श्रावक व श्राविता के प्रति आदर पकट करना इच्छाकार कहलाता है।

इनर-निगोद—जिन्होंने त्रय पचाय पहन कर्मा पायी है फिर पुन निगा म उत्पन्न हुए है, ऐसे जीव चतुर्गति निगाद या इतर-निगाद कहलान है।

प्रातः काल भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ उसी दिन सध्याकाल इन्हें केवलज्ञान हुआ। केवलज्ञान होने के बारह वर्ष बाद इन्हें मोक्ष प्राप्त हुआ।

इन्द्रिय—जो सूक्ष्म आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान कराने में सहायक है उसे इन्द्रिय कहते हैं। शरीरधारी जीवों को ज्ञान के साधन रूप स्पर्शन आदि पाच इन्द्रिया कही गयी हैं। इन्द्रिया अपने-अपने निश्चित विषय को ही जान पाती है, जैसे—आख मात्र रूप को जानती है वह रस को नहीं जान पाती। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाच इन्द्रिया हैं। ये पाचो इन्द्रिया द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय दोनों रूप में होती हैं।

इन्द्रिय-जय—पाचो इन्द्रियों को ज्ञान, वेराग्य और उपवास आदि के द्वारा वश में रखना इन्द्रिय-जय कहलाता है। यह पाचो इन्द्रियों के भेद से पाच प्रकार का है। यह साधु का मूलगुण है।

इन्द्रिय-सयम—देखिए सयम।

इन्द्रिय-सुख—साता वेदनीय आदि पुण्य कर्म के उदय से जो इन्द्रिय जनित सुख प्राप्त होता है उसे इन्द्रिय-सुख कहते हैं।

इष्ट-वियोगज-आर्तध्यान—स्त्री, पुत्र और धन आदि प्रिय वस्तु या व्यक्ति का वियोग होने पर उनके लिए निरतर चिन्तित या दुखी होना इष्ट-वियोगज नाम का आर्तध्यान कहलाता है।

इहलोकभय—‘इस भव में लोग न मालूम मेरा क्या बिगाड़ करेंगे’—ऐसा भय बना रहना इहलोक भय है।

ई

ईर्यापथक्रिया—ईर्या का अर्थ गति या गमन हे अत ईर्यापथ की कारणभूत क्रिया ईर्यापथ-क्रिया हे ।

ईर्यापथ-आस्रव—उपशान्त कषाय, क्षीण कषाय और सयोग-केवली भगवान के कषाय का अभाव हो जाने से मात्र योग के द्वारा आए हुए कर्म सूखी दीवार पर पड़ी धूल के समान तुरन्त झड़ जाते हे बधते नहीं है यह ईर्यापथ-आस्रव कहलाता है ।

ईर्या-समिति—प्राणियो को पीडा न होवे ऐसा विचार कर जो प्रासुक मार्ग से दिन मे चार हाथ आगे देखकर सावधानी पूर्वक अपने कार्य के लिए साधु का आना-जाना होता है वह ईर्या-समिति हे । यह साधु का एक मूलगुण है ।

ईर्ष्या—दूसरो के उत्कर्ष (वढती) को न सह सकना ईर्ष्या हे ।

ईशित्व ऋद्धि—जिससे साधु को सारे जगत पर प्रभुत्व करने की शक्ति प्राप्त हो वह ईशित्व-ऋद्धि हे ।

ईश्वर—केवलज्ञान आदि रूप ऐश्वर्य को प्राप्त करने वाले अर्हन्त ओर सिद्ध परमात्मा ईश्वर कहलाते हे ।

ईहा-मतिज्ञान—अवग्रह के द्वारा जाने गये पदार्थ के विषय मे विशेष जानने की इच्छा या जिज्ञासा को ईहा कहते हे । जेसे—यह सफेद हे, तो क्या हे / वगुला है या ध्वजा हे ।

उ

उक्तावग्रह—दूसरे के द्वारा कहे जाने पर वस्तु को जानना उक्तावग्रह है। जैसे 'यह घडा है'—ऐसा कहने पर घडे को जानना।

उग्रतप—जो साधु दीक्षा के दिन एक उपवास करके पारणा करता है फिर जीवन पर्यंत एक उपवास और पारणा रूप तप करता है अथवा जो साधु एक उपवास के बाद पारणा करके दो उपवास करता है फिर पारणा करके तीन उपवास करता है इस प्रकार एक अधिक वृद्धि के साथ जीवन पर्यंत उपवास करता है वह उग्रतप या उग्रोग्रतप ऋद्धि का धारी है।

उच्चगोत्र कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का लोक पूजित कुलो मे जन्म होता है वह उच्चगोत्र कर्म है। गोत्र, कुल, वंश और सन्तान—ये सब एकार्थवाची है।

उच्चार—आहार करते समय साधु के उदर से किसी रोग के कारण उच्चार अर्थात् मल निकल आने पर उच्चार नाम का अन्तराय होता है।

उच्छ्वास-नामकर्म—सास लेने को उच्छ्वास और सास छोडने को नि श्वास कहते है। जिस कर्म के निमित्त से जीव उच्छ्वास और नि श्वास रूप क्रिया करने मे समर्थ होता है उसे उच्छ्वास-नामकर्म कहते है।

उत्कर्षण—कर्मों की स्थिति ओर अनुभाग मे वृद्धि होना उत्कर्षण कहलाता है।

उत्तमार्थ-प्रतिक्रमण—समाधिमरण लेते समय जीवन भर हुए दोषों का स्मरण करके गुरु के सम्मुख आलोचना पूर्वक जो प्रतिक्रमण किया जाता है वह उत्तमार्थ-प्रतिक्रमण कहलाता है।

उत्तर-कुरु—यह विदेह क्षेत्र में स्थित शाश्वत उत्तम-भोग भूमि है। इसके उत्तर दिशा में नील पर्वत, दक्षिण में सुमेरु, पूर्व में मात्स्यवान और पश्चिम में गन्धमादन गजदत्त पर्वत स्थित है।

उत्तराध्ययन—जिसमें अनेक प्रकार के उत्तरो का वर्णन है जैसे—चार प्रकार के उपसर्ग कैसे सहन करना चाहिए? बार्डस प्रकार के परीषह सहन करने की विधि क्या है? इत्यादि प्रश्नों के उत्तर का वर्णन किया गया है वह उत्तराध्ययन है।

उत्पाद—द्रव्य का अपनी पूर्व अवस्था को छोड़कर नवीन अवस्था को प्राप्त करना उत्पाद कहलाता है।

उत्पाद-पूर्व—जीव, पुद्गल आदि का जहां जव जैसा उत्पाद होता है उस सबका वर्णन जिसमें हो वह उत्पाद-पूर्व नाम का पहला पूर्व है।

उत्सर्ग-मार्ग—देखिए अपवाद-मार्ग।

उत्सर्पिणी—जिस काल में जीवों की आयु बल और ऊर्चाई आदि का उत्तरोत्तर विकास होता है, उसे उत्सर्पिणी काल कहते हैं। इसके दुषमा-दुषमा, दुषमा, दुषमा-सुषमा, सुषमा-दुषमा, सुषमा और सुषमा-सुषमा ऐसे छह भेद हैं।

उदवर-फल—ऊमर, कठूमर, पाकर, वड, पीपल आदि वृक्षों के फल, उदवर-फल कहलाते हैं। ये त्रस जीवों के उत्पत्ति स्थान हैं इसलिए

अभक्ष्य है अर्थात् खाने योग्य नहीं है।

उदय—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भव के अनुरूप कर्मों के फल का प्राप्त होना उदय कहलाता है।

उदरक्रिमिनिर्गम—आहार करते समय साधु के उदर से किसी रोगवश कृमि आदि निकल आने पर उदरक्रिमिनिर्गम नाम का अन्तराय होता है।

उदराग्नि-प्रशमन—जैसे अपने घर में लगी हुई अग्नि को गृहस्वामी किसी भी प्रकार से बुझाने का प्रयत्न करता है उसी प्रकार साधु भी सरस या नीरस ऐसा भेद किए बिना श्रावक के द्वारा दिए गए प्रासुक आहार से उदराग्नि को शान्त करता है अतः साधु की यह आहार चर्या उदराग्नि प्रशमन कहलाती है।

उदीरणा—अपक्व अर्थात् नहीं पके हुए कर्मों को पकाना उदीरणा है। दीर्घ काल बाद उदय में आने योग्य कर्म को अपकर्षण करके उदय में लाकर उसका अनुभव कर लेना यह उदीरणा है।

उद्दिष्ट-आहार—दाता और पात्र की अपेक्षा उद्दिष्ट आहार दो प्रकार का है। दाता यदि अध कर्म सबधी सोलह उद्गम दोषों से युक्त आहार साधु को देता है तो यह दाता सबधी उद्दिष्ट आहार है। यदि पात्र अर्थात् साधु अपने लिए स्वयं आहार बनाए, वनवाए या आहार के उत्पादन सबधी किसी प्रकार का विकल्प करे तो यह पात्र सबधी उद्दिष्ट आहार कहलाता है।

उद्दिष्टाहार-त्याग-प्रतिमा—दसवीं अनुमति त्याग प्रतिमा के उपरान्त

गृहत्याग करके जीवन पर्यन्त उद्दिष्ट आहार का त्याग कर देना और सदाचारी श्रावक के द्वारा दिया गया प्रासुक आहार दिन में एक बार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा लेना, यह श्रावक की ग्यारहवीं उद्दिष्ट-आहार-त्याग-प्रतिमा कहलाती है। इसे धारण करने वाले उत्तम श्रावक को ऐलक और क्षुल्लक कहा जाता है।

उद्विन्न-दोष—बहुत समय से सील-वद करके रखी गई घी शक्कर आदि आहार सामग्री साधु के आने पर तुरत खोलकर देना उद्विन्न नाम का दोष है।

उद्यमी-हिंसा—खेती या अन्य उद्योग-धंधों में होने वाली हिंसा को उद्यमी-हिंसा कहते हैं।

उद्योत-नामकर्म—उज्जता रहित प्रकाश को उद्योत कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में उद्योत होता है वह उद्योत नामकर्म है। यह चद्रमा, चद्रकांत मणि और जुगनू आदि में होता है।

उन्मिश्रदोष—अप्रासुक जल, फल, बीज आदि से मिश्रित आहार साधु को देना उन्मिश्र दोष है।

उपकरण-दान—पिच्छी, कमण्डलु और शास्त्र आदि मोक्षमार्ग में सहायक उपकरण श्रद्धापूर्वक सद्पात्र को देना उपकरण-दान कहलाता है।

उपकल्की—देखिए कल्की।

उपगूहन—मोक्षमार्ग पर चलने वाले साधक के द्वारा अज्ञानतावश या असमर्थतावश यदि कोई गलती हो जाती है तो उसे ढक लेना या

यथासम्भव उसे दूर करना उपगूहन कहलाता है। यह सम्यग्दृष्टि का एक गुण है।

उपघात-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से शरीर के अङ्ग-उपाङ्ग स्वयं उसी जीव के लिये कष्टप्रद या घातक हो जाते हैं वह उपघात-नामकर्म है। जैसे—विशाल तोड़ वाला पेट या वारहसिगा के बड़े-बड़े सींग।

उपचरित-असद्भूत-व्यवहार-सश्लेष रहित वस्तुओं के सवध को वताने वाला उपचरित-असद्भूत व्यवहार नय है। यह वस्तु को जानने का एक ऐसा दृष्टिकोण है जिसमें सश्लेष से रहित सर्वथा भिन्न वस्तुओं के बीच स्वामित्व आदि की अपेक्षा सवध का कथन किया जाता है जैसे—‘यह देवदत्त का धन है’ या ‘यह मेरा मकान है’।

उपचरित-सद्भूत-व्यवहार-सोपाधि गुण और गुणी में भेद का कथन करना उपचरित सद्भूत व्यवहार नय है। यह वस्तु को जानने का एक ऐसा दृष्टिकोण है जिसमें कर्मोपाधि से युक्त द्रव्य के आश्रित रहने वाले गुणों को उस द्रव्य अर्थात् गुणी से प्रथक् कथन किया जाता है जैसे—जीव के मतिज्ञान आदि गुण हैं—ऐसा कहना।

उपचार-विनय—आचार्य आदि पूज्य पुरुषों के आने पर स्वयं उठकर खड़े हो जाना, हाथ जोड़ना और उनके पीछे चलना यह उपचार-विनय है। उपचार विनय तीन प्रकार की है कायिक-विनय, वाचिक-विनय और मानसिक-विनय।

उपदेश-सम्यक्त्व—तीर्थकर आदि महापुरुषों के जीवन चरित्र को सुनकर जो सम्यग्दर्शन होता है उसे उपदेश-सम्यक्त्व कहते हैं।

उपधान—शास्त्र-स्वाध्याय प्रारम्भ करते समय उस शास्त्र के पूर्ण हान तक विशेष नियम या व्रत धारण करना उपधान नाम का ज्ञानाचार है।

उपपाद—देव व नारकी जीवों के उत्पत्ति स्थान को उपपाद कहते हैं। देवलोक में देवों का उपपाद-स्थान ढकी हुई शय्या के समान होता है, जहाँ जीव अतर्मुहूर्त में सुदृढ़ शरीर की रचना कर लेता है। नारकी जीव पाप के उदय से ऊट के मुख की आकृति वाले विल के समान उपपाद स्थान में अत्यन्त कष्टपूर्वक जन्म लेते हैं।

उपभोग—जीवों के द्वारा जो वस्तु बार-बार भोगी जा सकती है उसे उपभोग कहते हैं। जैसे—वस्त्र-आभूषण, वाहन, आवास आदि।

उपभोगान्तराय—जिस कर्म के उदय से जीव वस्त्र, आभूषण आदि उपभोग की इच्छा करता हुआ भी उपभोग नहीं कर सकता उसे उपभोगान्तराय कर्म कहते हैं।

उपमा-सत्य—जो उपमा सहित हो अर्थात् जिसमें किसी वस्तु की उपमा या समानता अन्य वस्तु से की गई हो वह वचन उपमा-सत्य है। जैसे—मुख को चद्रमा के समान कहना। इसी प्रकार पत्न्योपम, सागरोपम आदि काल को मापने के जो उपमा-माप हैं वह भी उपमा-सत्य हैं।

उपयोग—1 स्व और पर को ग्रहण करने वाले जीव के परिणाम को उपयोग कहते हैं। 2 जो चेतन्य का अन्वयी है अर्थात् उसे छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता, वह परिणाम उपयोग कहलाता है। यह दो प्रकार का है—दर्शनोपयोग व ज्ञानोपयोग।

उपवास—अन्न-जल आदि सभी प्रकार के आहार का त्याग करना उपवास है। या विषय-कषाय को छोड़कर आत्मा में लीन रहना उपवास है।

उपवेशन—आहार करते समय शारीरिक शिथिलता के कारण साधु को यदि अचानक बैठना टिकना या सहारा लेना आवश्यक हो तो यह उपवेशन नाम का अन्तराय है।

उपशम—आत्मा में कर्म की निज शक्ति का कारणवश प्रगट न होना उपशम कहलाता है। जैसे—जल में फिटकरी डालने पर मैल नीचे बैठ जाता है और जल निर्मल हो जाता है इसी प्रकार कर्म के उपशम से अन्तर्मुहूर्त के लिए जीव के परिणाम अत्यंत निर्मल हो जाते हैं यह उपशम की प्रक्रिया सिर्फ मोहनीय कर्म में होती है।

उपशम-श्रेणी—चारित्र्य मोहनीय कर्म का उपशम करता हुआ साधक जिस श्रेणी अर्थात् अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म साम्पराय और उपशान्त कषाय नामक आठवे, नौवे, दसवे और ग्यारहवे इन चार गुणस्थानों रूप सीढ़ी पर चढ़ता है उसे उपशम-श्रेणी कहते हैं।

उपशम-सम्यक्त्व—दर्शन मोहनीय कर्म के उपशम से आत्मा में जो निर्मल श्रद्धान् उत्पन्न होता है उसे उपशम सम्यक्त्व कहते हैं। यह दो प्रकार का है—प्रथमोपशम-सम्यक्त्व और द्वितीयोपशम-सम्यक्त्व।

उपशान्त-कषाय—जिसने समस्त मोहनीय कर्म का उपशम कर लिया है ऐसे ग्यारहवे गुणस्थानवर्ती जीव को उपशान्तकषाय कहते हैं।

उपसर्ग—1 साधुजनो पर आने वाली विपत्ति या सकट को उपसर्ग

कहते हैं। उपसर्ग चार प्रकार का है—मनुष्यकृत, देवकृत, तिर्यचकृत और प्रकृतिजन्य। 2 देव, मनुष्य आदि के द्वारा साधु के ऊपर उपसर्ग होने पर आहार में बाधा होती है यह उपसर्ग नाम का अन्तराय है।

उपसर्ग-कैवली—जो मुनि उपसर्ग सहन करते हुए घातिया कर्मों को जीत कर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं वे उपसर्ग-कैवली कहलाते हैं।

उपादान-कारण—किसी कार्य के होने में जो स्वयं उस कार्य रूप परिणामन करे, वह उपादान कारण कहलाता है। जैसे रोटी के बनने में गीला आटा उपादान-कारण है।

उपाध्याय—जो साधु जिनागम का उपदेश करते हैं, स्वयं पढ़ते और अन्य साधुओं को पढ़ाते हैं वे उपाध्याय कहलाते हैं। उपाध्याय परमेष्ठी चौदह विद्याओं के व्याख्यान करने वाले या तात्कालिक परमागम के व्याख्याता होते हैं। दीक्षा व प्रायश्चित्त आदि क्रियाओं को छोड़कर ये आचार्य के शेष समस्त गुणों से परिपूर्ण होते हैं।

उपासकाध्ययनाङ्ग—जिसमें श्रावक-धर्म का विशेष विवेचन किया गया हो वह उपासकाध्ययनाङ्ग कहलाता है।

उभय-मन-वचन—सत्य और असत्य दोनों रूप पदार्थ का जानने या कहने में जीव के मन और वचन की प्रयत्न रूप प्रवृत्ति को उभय-मन-वचन योग कहते हैं। जैसे—कमण्डलु में जल भरने की क्षमता देखकर उसे घड़ा मानना या घड़ा कहना। जल धारण की क्षमता होने से वह घड़े की तरह है पर घड़ा नहीं है। अतः सत्य और असत्य दोनों रूप हैं।

उष्ण-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से शरीरगत पुद्गल स्कन्धो मे उष्णता होती है उसे उष्ण-नामकर्म कहते है ।

उष्ण-परीषह-जय—ग्रीष्मकाल मे उपवास आदि के कारण उत्पन्न दाह से पीडित होने पर भी जो साधु उसके प्रतिकार का विचार न करके अपने चरित्र मे दृढता पूर्वक स्थित रहते हैं और उष्णता के कष्ट को समतापूर्वक सहन करते है, उनके यह उष्ण-परीषह-जय है ।

ऊ

ऊर्ध्वलोक—समूचा लोक तीन भागों में विभक्त है। लोक का ऊपरी भाग ऊर्ध्वलोक कहलाता है। इसका आकार मृदग अर्थात् ढोलक के समान है और ऊंचाई सात राजू है। यहा वैमानिक देवों का निवास है। सोलह स्वर्ग, नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश और पाच अनुत्तर-विमान—ये सभी ऊर्ध्वलोक में क्रमशः ऊपर ऊपर स्थित हैं।

ऋ

ऋजुगति—पूर्व भव के शरीर को छोड़कर आगामी भव में जाते हुए जीव की जो सरल अर्थात् धनुष से छूटे हुए बाण के समान मोड़ा-रहित गति होती है—उसे ऋजुगति कहते हैं। इसका दूसरा नाम ईषुगति भी है।

ऋजुमति—जो ज्ञान दूसरे के मन में स्थित सरल अर्थ को जान लेता है उसे ऋजुमति-मन पर्यय-ज्ञान कहते हैं।

ऋजुसूत्र—जो केवल वर्तमान काल सबधी पर्याय को ग्रहण करता है उसे ऋजुसूत्रनय कहते हैं। यह दो प्रकार का है—सूक्ष्म-ऋजुसूत्र और स्थूल-ऋजुसूत्र। सूक्ष्म-ऋजुसूत्र-नय प्रतिक्षण होने वाली अर्थ-पर्याय को ग्रहण करता है। स्थूल-ऋजुसूत्र-नय देव, मनुष्य आदि स्थूल पर्यायो को ग्रहण करता है।

ऋद्धि—तपस्या के फलस्वरूप साधु को जो विशेष शक्तिया प्राप्त हो जाती है उन्हें ऋद्धि कहते हैं। ऋद्धिया सात प्रकार की है जिनके भेद-प्रभेद चौसठ हैं।

ऋद्धिगारव—शिष्य, पुस्तक, कमण्डलु आदि के द्वारा अपना बड़प्पन या अभिमान प्रगट करना ऋद्धिगारव नामक दोष है।

ऋषि—ऋद्धि प्राप्त साधुओं को ऋषि कहते हैं। जो चार प्रकार के हैं—राजर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि और परमर्षि।

ए

एकत्व-वितर्क-अवीचार—मोहनीय कर्म को पूर्णतः नष्ट करने के लिए साधु मन-वचन-काय रूप किसी एक योग में स्थित रहकर, अर्थ, व्यजन व योग के परिवर्तन से रहित होकर श्रुत के माध्यम से जो किसी एक द्रव्य, गुण या पर्याय का चिन्तन करता है उसे एकत्व-वितर्क-अवीचार नामक द्वितीय शुक्लध्यान कहते हैं।

एकत्वानुप्रेक्षा—“मैं अकेला ही उत्पन्न होता हूँ, अकेला ही मरता हूँ, अकेला ही कर्मों का उपार्जन करता हूँ और अकेला ही उन्हें भोगता हूँ, कोई भी स्वजन और परिजन मेरे जन्म, जरा और मरण आदि के कष्ट को दूर नहीं कर सकते, धर्म ही एकमात्र ऐसा है जो मेरा सहायक है और मैं साथ जाकर भवान्तर में भी सहायक हो सकता हूँ,”—इस प्रकार बार-बार चिन्तन करना एकत्वानुप्रेक्षा है।

एकभक्त—जीवन-पर्यन्त प्रतिदिन सूर्य के प्रकाश में विधिपूर्वक एक ही बार आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा लेना एकभक्त व्रत कहलाता है। यह साधु का एक मूलगुण है।

एकलविहारी—एकाकी विचरण करने वाले साधु को एकल-विहारी कहते हैं। पचम काल में दीक्षा धारण करके अकेले रहना या अकेले विहार करना साधु के लिये प्रशंसनीय नहीं है। तपोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, आचार कुशल, उत्तम सहनन के धारी, धैर्यवान् विशिष्ट साधु को ही अकेले विहार की अनुमति, आचार्यों ने दी है।

एकविधअवग्रह—एक प्रकार के अथवा एक जाति के, एक या अनेक

पदार्थों को जानना एकविध-अवग्रह है। जैसे—गेहूँ, चावल आदि एक प्रकार के धान्य को जानना।

एकान्त-मिथ्यात्व—तत्त्व के विषय में 'यही है, इस प्रकार का है'—ऐसा भ्रान्त और एकान्त अभिप्राय या आग्रह रखना एकान्त मिथ्यात्व है। जैसे—जीव सर्वथा नित्य ही है या अनित्य ही है—ऐसा मानना।

एकावग्रह—किसी एक पदार्थ को जानना एकावग्रह है। जैसे—अनेक शब्दों में से किसी एक शब्द को जानना।

एकेन्द्रिय—जिसके एकमात्र स्पर्शन इन्द्रिय है वह एकेन्द्रिय जीव है। वनस्पति, जल, वायु आदि सभी स्थावर जीव एकेन्द्रिय हैं।

एलाचार्य—गुरु के पश्चात् जो श्रेष्ठ साधु सघस्थ अन्य साधुओं को मार्गदर्शन देता है उसे अनुदिश अर्थात् एलाचार्य कहते हैं।

एवंभूत-नय—जो वस्तु जिस पर्याय को प्राप्त हुई है उसी रूप निश्चय करने वाले या नाम देने वाले नय को एवंभूत-नय कहते हैं। आशय यह है कि जिस शब्द का जो वाच्य है उस रूप क्रिया करते समय ही उस शब्द का प्रयोग करना ठीक है अन्य समयों में नहीं। जैसे—जिस समय आज्ञा या ऐश्वर्यवान् हो उस समय ही इन्द्र है, पूजा या अभिषेक करने वाला इन्द्र नहीं कहलाएगा।

एषणा-समिति—जीवन पर्यन्त सुकुल श्रावक के द्वारा दिया गया निर्दोष और प्रासुक आहार समतापूर्वक ग्रहण करने की प्रतिज्ञा लेना एषणा-समिति है। यह साधु का एक मूलगुण है।

ऐ

ऐरावत क्षेत्र—यह क्षेत्र छह खण्डों में विभाजित है। इसमें पाच म्लेच्छखण्ड और एक आर्यखण्ड है। भरत क्षेत्र के समान ही सभी शलाका पुरुष इस क्षेत्र के आर्यखण्ड में उत्पन्न होते हैं। ऐरावत नामक राजा के द्वारा परिपालित होने से इसका ऐरावत-क्षेत्र नाम प्रसिद्ध हुआ है। अढाई द्वीप में पाच ऐरावत-क्षेत्र है।

ऐरावत हाथी—सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के वाहन जाति के देव विक्रिया के द्वारा एक लाख योजन प्रमाण दीर्घ ऐरावत नामक हाथी बनते हैं। यह हाथी दिव्य रत्न-मालाओं से युक्त बत्तीस मुख वाला होता है। तीर्थंकरों के जन्माभिषेक के अवसर पर बालक-तीर्थंकर को लेकर सौधर्म इन्द्र इसी हाथी पर बैठकर आकाशमार्ग से सुमेरु पर्वत पर जाता है।

ऐलक—जो श्रावक की समस्त ग्यारह प्रतिमाओं का पालन करते हैं, शरीर पर एकमात्र कौपीन रूप वस्त्र धारण करते हैं और दिन में एक बार बैठकर हाथ की अजली में गृहस्थ के द्वारा दिया गया निर्दोष व प्रासुक आहार लेते हैं वे ऐलक कहलाते हैं। केशलुचन करना इनके नियमों में शामिल है।

ओ

ओज आहार—पक्षियों के द्वारा अण्डे सेते समय जो उष्मा दी जाती है वह ओज-आहार है।

ओम्—यह पच परमेष्ठी वाचक मन्त्र है। अर्हन्त का अ, सिद्ध अर्थात् अशरीरि का अ, आचार्य का आ, उपाध्याय का उ, और मुनि का म्। इस तरह पच परमेष्ठी के प्रथम अक्षरो से मिलकर 'ओम्' बना है।

औ

औदयिक-भाव—जीव कें जो भाव कर्म के उदय से उत्पन्न होते हे वह ओदयिक-भाव कहलाते हे। ओदयिक-भाव इक्कीस हैं—चार गति, चार कषाय, तीन लिग, एक मिथ्यादर्शन, एक अज्ञान, एक असयम, एक असिद्ध भाव ओर छह लेश्याए।

औदारिक शरीर—जो शरीर गर्भजन्म से या सम्मूर्छन जन्म से उत्पन्न होता हे वह औदारिक शरीर है। अथवा तिर्यच ओर मनुष्यो के स्थूल शरीर को औदारिक शरीर कहते हे।

औपशमिक-भाव—जो कर्मों के उपशम से उत्पन्न होता है उसे ओपशमिक-भाव कहते हे। ओपशमिक भाव दो हैं—औपशमिक सम्यक्त्व ओर ओपशमिक-चारित्र।

औषधि दान—श्रद्धापूर्वक सद्पात्र को अनुकूल ओषधि, पथ्य आदि देना औषधि-दान कहलाता है।

क

कथा—1 मोक्ष पुरुषार्थ के लिये उपयोगी होने से धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ का कथन करना कथा कहलाती है। 2 जिससे जीवों को स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है वह धर्म कहलाता है। धर्म से सबध रखने वाली कथा को धर्मकथा या सत्कथा कहते हैं। 3 प्रथमानुयोग आदि शास्त्र ही धर्मकथा है। आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, सवेगनी और निर्वेगनी—ये चार धर्म-कथा के भेद हैं।

कदलीघात-मरण—विष, वेदना, रक्त-क्षय, भय, शस्त्राघात, सक्लेश, अनीति, आहार व श्वास के रोकने आदि किसी बाह्य कारण के द्वारा जो सहसा आयु का घात होता है उसे कदलीघात-मरण या अकाल-मृत्यु कहते हैं।

करण-लब्धि—करण का अर्थ परिणाम है। सम्यग्दर्शन के योग्य परिणामों की प्राप्ति होना करण-लब्धि है। करण-लब्धि भव्य जीवों को ही होती है। करण-लब्धि के अतर्गत जीव अधःप्रवृत्त करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्ति करण रूप तीन करण करता है।

करणानुयोग—लोक-अलोक के विभाग, युगों के परिवर्तन और चारों गतियों के स्वरूप को बताने वाला शास्त्र करणानुयोग है। इस अनुयोग के कथन का प्रयोजन यह है कि लोक-अलोक आदि के वर्णन में उपयोग रम जाए तो पाप-प्रवृत्ति से छूटकर जीव स्वयमेव धर्म में लग जायेगा। लोक-अलोक का ऐसा सूक्ष्म वर्णन पढ़ने से श्रद्धान में दृढता और परिणामों में निर्मलता आयेगी।

करुणा-दान-दीन-दुखी जीवों को दयापूर्वक यथायोग्य आहार औषध आदि देना करुणा-दान या दया-दत्ति कहलाता है।

करेण-किंचित्-ग्रहण—आहार के समय यदि साधु अपने हाथ से कुछ उठा लेता है तो यह करेण-किंचित्-ग्रहण नाम का अन्तराय कहलाता है।

कर्म—जीव मन वचन काय के द्वारा प्रतिक्षण कुछ न कुछ करता है वह सब उसकी क्रिया या कर्म है। कर्म के द्वारा ही जीव परतत्र होता है और ससार में भटकता है। कर्म तीन प्रकार के हैं—द्रव्य-कर्म, भाव-कर्म और नो-कर्म।

कर्म-चेतना—ऐसा अनुभव करना कि 'इसे मैं करता हूँ'—यह कर्म-चेतना है। वास्तव में, जीव का स्वभाव मात्र जानना देखना है पर कर्म से युक्त जीव 'पर' वस्तुओं में करने-धरने रूप विकल्प करता है यही कर्म-चेतना है।

कर्मप्रवाद—जिसमें कर्मों की बध, उदय, उपशम आदि विविध अवस्थाओं का और स्थिति आदि का वर्णन है वह कर्म-प्रवाद-पूर्व नाम का आठवा पूर्व है।

कर्मफल-चेतना—ऐसा अनुभव करना कि 'इसे मैं भोगता हूँ' यह कर्मफल-चेतना है। अज्ञानी ससारी जीव इन्द्रिय-जनित सुख-दुख में तन्मय होकर 'सुखी या दुखी'—ऐसा अनुभव करता है यही कर्म-फल-चेतना है।

कर्मभूमि—जहाँ के निवासी खेती, व्यापार आदि कर्म करके अपनी

आजीविका चलाते हैं उसे कर्मभूमि कहते हैं। कर्मभूमि में जीव दान पुण्य आदि धर्म कार्य कर सकते हैं और सयम धारण करके मोक्ष भी प्राप्त कर सकते हैं। तीर्थंकर आदि सभी महापुरुष कर्म-भूमि में ही उत्पन्न होते हैं। अढाई द्वीप में पाच भरत, पाच ऐरावत और पाच विदेह सबधी पद्रह कर्मभूमिया हैं।

कर्माहार—नारकी जीवों के आहार को कर्माहार कहते हैं।

कल्की—साधुजनों पर अत्याचार करने वाले धर्मद्रोही राजा को कल्की कहते हैं। अवसर्पिणी के पचमकाल में प्रत्येक एक हजार वर्ष के बाद एक-एक कल्की का जन्म होता है तथा प्रत्येक पाच सौ वर्ष के बाद एक-एक उपकल्की जन्म लेता है। इस प्रकार पूरे पचमकाल में इक्कीस कल्की और उतने ही उपकल्की धर्मात्माओं पर अत्याचार करने के कारण प्रथम नरक जाते हैं। प्रत्येक कल्की के समय में साधु-संघ अत्यंत अल्प रह जाता है। अंतिम कल्की के समय मात्र एक साधु, एक आर्यिका, एक श्रावक और एक श्राविका शेष रहते हैं जो समाधि-मरण ग्रहण करके स्वर्ग जाते हैं। इसके उपरांत धर्म-कर्म से शून्य दुःखमा-दुःखमा नामक छठा काल प्रारंभ होता है।

कल्प-काल—दश कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण अवसर्पिणी और उतना ही उत्सर्पिणी, ये दोनों मिलकर अर्थात् बीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण एक कल्प-काल होता है।

कल्पद्रुम-पूजा—चक्रवर्ती के द्वारा किमिच्छक-दान अर्थात् सभी को इच्छानुरूप दान देकर जो भगवान् जिनेन्द्र की पूजा की जाती है उसे कल्पद्रुम पूजा कहते हैं।

कल्पवासी-देव—इन्द्र सामानिक आदि भेद युक्त देव जहा रहते हे उस कल्प कहते हे । अत कल्प मे उत्पन्न होने वाले देवो को कल्पवासी देव कहा जाता हे । सभी सोलह स्वर्गों के देव कल्पवासी हैं ।

कल्पवृक्ष—जो जीवो को अपनी-अपनी मनवांछित वस्तुएं दिया करते हे वे कल्पवृक्ष कहलाते हे । भोगभूमि मे पानाग, तूर्याग, भूषणाग, वस्त्राग, भोजनाग, आलयाग, दीपाग, भाजनाग, मालाग और तेजाग आदि कल्पवृक्ष होते हे ।

कल्पातीत-देव—इन्द्र सामानिक आदि भेद से रहित देव कल्पातीत-देव कहलाते हे । सोलह स्वर्ग से ऊपर नो ग्रैवेयक, नो अनुदिश ओर पाच अनुत्तर विमानो मे सभी कल्पातीत-देव है ।

कल्यव्यवहार—जिसमे साधुओ के योग्य आचरण का ओर अयोग्य-आचरण होने पर प्रायश्चित्त विधि का वर्णन हे वह कल्यव्यवहार नामक अङ्गबाह्य श्रुत है ।

कल्याकल्प—“द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा मुनियो के लिए यह योग्य हे, और यह अयोग्य हे”,—इस तरह इन सबका वर्णन करने वाला कल्याकल्प नामक अङ्गबाह्य श्रुत है ।

कल्याणक—तीर्थकरो के जीवन मे पाच प्रसिद्ध अवसर ऐसे आते हैं जो जगत् के लिए कल्याणकारी होते हे इन्हे ही पचकल्याणक कहते हैं । गर्भ-कल्याणक, जन्म-कल्याणक, दीक्षा-कल्याणक, ज्ञान-कल्याणक और मोक्ष-कल्याणक—ये पाच कल्याणक हे । भरत ओर ऐरावत क्षेत्र मे पाचो कल्याणक वाले तीर्थकर उत्पन्न होते है । विदेह क्षेत्र मे दो या तीन कल्याणक वाले तीर्थकर भी होते है ।

कल्याणवाद-पूर्व—जिसमे सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और तारागणों के गमन-क्षेत्र, उपपाद-स्थान, अनुकूल-प्रतिकूल गति तथा उसके फल का, पक्षियों के शब्दों का एव तीर्थकर के पंच कल्याणको का वर्णन किया गया है वह कल्याणवाद-पूर्व नाम का ग्यारहवा पूर्व है।

कवलाहार—मनुष्य और तिर्यचो के द्वारा कवल अर्थात् ग्रास के रूप में जो आहार मुख से ग्रहण किया जाता है वह कवलाहार है। यह खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय-ऐसे चार प्रकार का है।

कषाय—आत्मा में होने वाली क्रोधादि रूप कलुषता को कषाय कहते हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चार कषाये हैं।

कषाय-समुद्घात—बाह्य निमित्त पाकर कषाय की तीव्रता में जीव के आत्म-प्रदेश शरीर से तिगुने फैल जाते हैं यह कषाय-समुद्घात है।

काक—आहार के लिए जाते समय या आहार करते समय साधु के ऊपर कौआ आदि पक्षी वीट कर दे तो यह काक नाम का अन्तराय है।

काकादि-पिण्ड-हरण—आहार करते समय कौआ आदि पक्षी साधु के हाथ से ग्रास उठा ले जाए तो यह काकादि-पिण्ड-हरण नाम का अन्तराय है।

कापोत-लेश्या—ईर्ष्या करना, चुगली करना, दूसरे का अपमान करना, आत्म-प्रशंसा करना, दूसरों की निन्दा करना, अपनी प्रशंसा सुनकर सतुष्ट होना, युद्ध में मरने की इच्छा रखना और कर्तव्य-अकर्तव्य को नहीं पहचानना—ये सब कापोत लेश्या के लक्षण हैं।

कामदेव—चौबीस तीर्थकरों के समय में अनुपम सौंदर्य को धारण करने

का है—निश्चय-काल और व्यवहार-काल ।

काल-परिवर्तन—कोई जीव उत्सर्पिणी काल के प्रथम समय में उत्पन्न हुआ व आयु पूर्ण होने पर मर गया फिर वह भ्रमण करके द्वितीय उत्सर्पिणी काल के द्वितीय समय में उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण होने पर मर गया, फिर वह भ्रमण करके तृतीय उत्सर्पिणी के तृतीय समय में उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण होने पर मर गया, इस प्रकार क्रम से उसने उत्सर्पिणी काल के प्रत्येक समय में जन्म लिया और फिर क्रम से अवसर्पिणी काल पूरा किया । अर्थात् उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी-काल के बीस कोड़ा-कोड़ी सागर के जितने समय हैं उनमें क्रमशः उत्पन्न हुआ और क्रमशः मरण भी किया । यह सब मिलकर एक काल-परिवर्तन है । तात्पर्य यह है कि काल-परिवर्तन रूप ससार में भ्रमण करता हुआ यह जीव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के संपूर्ण समयों में अनेक बार जन्म धारण करता है और मरता है ।

काल-पूजा—तीर्थकरो के पचकल्याणक की तिथिया तथा अन्य दसलक्षण आदि पर्व के दिनों को निमित्त बनाकर जो पूजा की जाती है वह काल-पूजा है ।

काल-लब्धि—सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में काल लब्धि आदि बहिरंग कारण और करण लब्धि रूप अंतरंग कारण होना अनिवार्य है । तीन प्रकार की काल लब्धि मानी गयी है—प्रत्येक भव्यात्मा अर्धपुद्गल परिवर्तन काल शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्व ग्रहण करने योग्य होता है इससे अधिक काल शेष रहने पर नहीं होता, यह ससार-स्थिति सबधी प्रथम काल-लब्धि है । उत्कृष्ट या जघन्य स्थिति वाले कर्मों के शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्व का लाभ नहीं होता बल्कि जब वधने

वाले कर्मों की स्थिति अतः कोडकोडी सागर होती है और विशुद्ध परिणामों के फलस्वरूप सत्ता में स्थित कर्मों की स्थिति सख्यात हजार सागर कम अतः कोडाकोडी सागर रह जाती है तब यह जीव प्रथम सम्यक्त्व ग्रहण करने योग्य होता है, यह कर्म-स्थिति सबधी द्वितीय काललब्धि है। जो जीव भव्य है, सज्जी, पचेन्द्रिय, पर्याप्तक हे और सर्वविशुद्ध है वह प्रथम सम्यक्त्व ग्रहण करने योग्य है, यह भव सबधी तीसरी काल-लब्धि है।

काल-सामायिक—ग्रीष्म आदि किसी भी ऋतु के आने पर उसमें राग-द्वेष नहीं करना समता-भाव रखना काल-सामायिक है।

काल-स्तव—तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म आदि पंच-कल्याणों की शुभ क्रियाओं से जो महत्ता को प्राप्त हो चुका है ऐसे काल का वर्णन करना काल-स्तव है।

कालाचार—स्वाध्याय के योग्य काल में ही शास्त्र का पठन-पाठन आदि करना कालाचार या काल-शुद्धि है।

कालोदधि—मध्यलोक का द्वितीय समुद्र। यह कृष्णवर्ण का है और धातकीखण्ड द्वीप को सब ओर से घेरे हुए है। इसमें चौबीस द्वीप अभ्यन्तर सीमा में और चौबीस बाह्य सीमा में हैं। इन सभी द्वीपों में हाथी, घोड़ा, ऊट आदि के समान आकृति वाले कुम्भोगभूमिज मनुष्य रहते हैं।

कीलक-सहनन—जिस कर्म के उदय से शरीर में हड्डियों की संधियाँ कील आदि के बिना मात्र परस्पर जुड़ी रहती हैं वह कीलक-सहनन नामकर्म कहलाता है।

कुगुरु—आरभ और परिग्रह मे सलग्न साधु तथा पाखण्डी वेषधारी साधु कुगुरु कहलाते है ।

कुदेव—जो देव अपने साथ स्त्री, अस्त्र-शस्त्र, वस्त्र आदि परिग्रह रखते हे एव रागद्वेष से दूषित होकर शाप और वरदान देते है वे कुदेव कहलाते है ।

कुधर्म—जिस धर्म या धर्मग्रन्थ मे हिसादि पापाचरण को धर्म माना गया हो उसे कुशास्त्र या कुधर्म कहते है ।

कुथुनाथ—सत्रहवे तीर्थंकर और छठे चक्रवर्ती । हस्तिनापुर के कौरववंशी महाराज सूरसेन और रानी श्रीकान्ता के यहा जन्म लिया । इनकी आयु पचानवे हजार वर्ष थी । शरीर की ऊचाई पैतीस धनुष और आभा स्वर्ण के समान थी । चक्रवर्ती का विपुल-वैभव त्याग कर एक दिन दिगम्बर दीक्षा अङ्गीकार कर ली । सोलह वर्ष तक कठिन तपस्या के उपरान्त केवलज्ञान प्राप्त किया । इनके चतुर्विध सघ मे स्वयम्भू आदि पैतीस गणधर, साठ हजार मुनि, साठ हजार तीन सौ पचास आर्यिकाए, तीन लाख श्राविकाए और दो लाख श्रावक थे । इन्होने सम्मेदशिखर से निर्वाण प्राप्त किया ।

कुब्जक-सस्थान—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर कुवडा होता है उसे कुब्जक-शरीर-सस्थान नामकर्म कहते है ।

कुल—1 दीक्षा देने वाले आचार्य की शिष्य परंपरा को कुल कहते है । 2 पिता की वंश परंपरा को कुल कहते है ।

कुलकर—कर्मभूमि के प्रारभ मे आर्य पुरुषो को कुल या कुटुम्ब की

भाति इकट्ठे रहकर जीने का उपदेश देने वाले महापुरुष कुलकर कहलाते हैं। प्रजा के जीवन-यापन का उपाय जानने से ये मनु भी कहलाते हैं। प्रत्येक अवसर्पिणी के तीसरे और उत्सर्पिणी के दूसरे काल में चौदह कुलकर होते हैं। ये सभी क्षायिक सम्यग्दृष्टी होते हैं। इसमें किसी को जातिस्मरण और किसी को अवधिज्ञान होता है।

कुशील—कामसेवन में आसक्त होना कुशील है। अथवा शील का अर्थ स्वभाव है अतः अपने आत्म-स्वभाव से विचलित होना कुशील है।

कुशील साधु—यह निर्ग्रन्थ साधु का एक भेद है। कुशील नामक निर्ग्रन्थ साधु दो प्रकार के हैं—कषाय कुशील और प्रतिसेवना कुशील। जिन्होंने अन्य सभी कषायों को जीत लिया है जो केवल सञ्चलन कषाय के अधीन हैं ऐसे निर्ग्रन्थ साधु कषाय-कुशील कहलाते हैं। जो मूलगुण और उत्तरगुणों से परिपूर्ण हैं लेकिन कभी उत्तरगुणों की विराधना जिनसे हो जाती है ऐसे निर्ग्रन्थ साधु प्रतिसेवना-कुशील कहलाते हैं।

कृत—स्वयं अपने द्वारा किया गया कार्य कृत कहलाता है।

कृतिकर्म—1 अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य और बहुश्रुतवान् साधु की वदना करते समय जो विनय आदि क्रिया की जाती है उसे कृतिकर्म कहते हैं। 2 जिसमें अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य और साधु की पूजा विधि का वर्णन है वह कृतिकर्म नाम का अङ्गवाक्य है।

कृष्ण-लेश्या—कृष्ण-लेश्या से युक्त दुष्ट पुरुष अपने ही गोत्रीय बंधु और एकमात्र पुत्र को भी मारने की इच्छा करता है। दुराग्रह, तीव्र वेर, अतिक्रोध, निर्दयता, क्लेश, सताप, हिंसा, असतोष आदि

तामस-भाव कृष्ण-लेश्या के लक्षण हे ।

केवलज्ञान—जो सकल चराचर जगत् को दर्पण में झलकते प्रतिविव की तरह एक साथ स्पष्ट जानता हे वह केवलज्ञान हे । यह ज्ञान चार घातिया कर्मों के नष्ट होने पर आत्मा में उत्पन्न होता है ।

केवलदर्शन—समस्त आवरण का क्षय होने से जो सर्व चराचर जगत् का सामान्य प्रतिभास होता हे उसे केवल-दर्शन कहते हे । केवलज्ञान ओर केवलदर्शन क्रमशः न होकर एक साथ ही होते हे ।

केवलि-अवर्णवाद—“केवली भगवान् कवलाहार करते हैं, कम्बल व भिक्षा-पात्र ग्रहण करते हे उनके ज्ञान व दर्शन एक साथ न होकर क्रमशः होते हे तथा वे नग्न होते हुए भी वस्त्राभूषण से आभूषित दिखाई देते हे”—इस प्रकार केवली भगवान् के विषय में मिथ्या कथन करना केवलि-अवर्णवाद है ।

केवलि-समुद्घात—आयुर्कर्म की स्थिति अल्प ओर वेदनीय कर्म की स्थिति अधिक होने पर उसे आयु के समान करने के लिए केवली भगवान् के आत्म-प्रदेश मूल शरीर से बाहर फैलते हैं इसे केवलि-समुद्घात कहते हैं । जैसे—दूध में उबाल आकर शात हो जाता हे उसी प्रकार यह प्रक्रिया होती है । यह समुद्घात दड, कपाट, प्रतर व लोकपूरण—इन चार अवस्थाओं में क्रमशः पूर्ण होता है ।

केवली—चार घातिया कर्मों के क्षय होने से जिन्हे केवलज्ञान प्राप्त हो गया है वे केवली कहलाते हे । इन्हे अर्हन्त भी कहते है । केवली दो प्रकार के है—सयोग-केवली और अयोग-केवली । केवली भगवान् जब तक विहार और उपदेश आदि क्रियाएँ करते हैं तब तक

सयोग-केवली कहलाते हैं। आयु के अंतिम कुछ क्षणों में जब इन क्रियाओं का त्याग करके योग-निरोध कर लेते हैं तब वे अयोग-केवली कहलाते हैं। तीर्थकर-केवली, सातिशय-केवली, मूक-केवली, उपसर्ग-केवली, अन्तकृत-केवली और सामान्य केवली—ऐसे केवली के छह भेद हैं।

केशलौच—जीवन पर्यन्त निश्चित अवधि के उपरांत अपने सिर, दाढ़ी और मूँछ के बालों को विना खेद के शान्त-भाव से उखाड़ कर अलग कर देने की प्रतिज्ञा लेना यह साधु का केशलौच नाम का मूलगुण है। इसे अधिकतम चार महीने के अंतराल में करना अनिवार्य है। केशलौच के दिन उपवास भी किया जाता है।

कैलास-पर्वत—यह तीर्थकर ऋषभदेव की निर्वाणभूमि है। चक्रवर्ती भरत ने यहाँ महारत्नो से निर्मित चौबीस जिनालय बनवाये थे। पाच सौ धनुष ऊँची भगवान् ऋषभदेव की प्रतिमा भी उन्होंने यही स्थापित करायी थी।

कोडाकोड़ी—एक करोड़ में एक करोड़ का गुणा करने पर जो राशि प्राप्त होती है उसे एक कोडाकोड़ी या एक कोटाकोटी कहते हैं।

कोष्ठ-बुद्धि—उत्कृष्ट धारणा ज्ञान से युक्त जो साधु गुरु के उपदेश से अनेक प्रकार के ग्रंथों में से शब्द रूपी बीज-पदों को अपने बुद्धि रूपी कोठे में धारण कर लेते हैं उनकी बुद्धि को कोष्ठ बुद्धि कहा जाता है। यह एक ऋद्धि है।

क्रियाविशाल—जिसमें लेखन कला आदि वहत्तर कलाओं का, स्त्री सवधी चोसठ गुणों का, काव्य-सवधी गुण-दाष-विधि का और छंद निर्माण कला का विवेचन है वह क्रिया-विशाल-पूर्व नाम का तेरहवा पूर्व है ।

क्रीत-दोष—अपनी गाय आदि किसी वस्तु को देकर बदले में आहार सामग्री लेकर साधु को देना क्रीत-दोष है ।

क्रोध—अपने और दूसरे के घात या अहित करने रूप क्रूर परिणाम को क्रोध कहते हैं । वह पर्वत रेखा, पृथ्वी रेखा, धूलि रेखा और जल रेखा के समान चार प्रकार का है ।

क्रोध-दोष—दाता के सामने क्रोध प्रगट करके यदि साधु आहार प्राप्त करता है तो यह क्रोध नामक दोष है ।

क्षपक—क्षपक-श्रेणी पर चढ़ने वाला जीव चारित्र्यमोहनीय का अन्तरकरण कर लेने पर क्षपक कहलाता है । क्षपक दो प्रकार के हैं—अपूर्वकरण-क्षपक और अनिवृत्तिकरण-क्षपक ।

क्षपक-श्रेणी—मोहनीय कर्म का क्षय करता हुआ साधु जिस श्रेणी अर्थात् अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म-साम्प्रदाय और क्षीण-मोह नामक आठवे, नौवे, दसवे और बारहवे—इन चार गुणस्थानों रूप सीढ़ी पर आरुढ़ होता है उसे क्षपक-श्रेणी कहते हैं ।

क्षमा-धर्म—क्रोध उत्पन्न कराने वाले कारण मिलने पर भी जो थोड़ा भी क्रोध नहीं करता उसके यह क्षमाधर्म है । अथवा क्रोध का अभाव होना ही क्षमा है ।

क्षय—क्षय का अर्थ है नष्ट होना। जैसे फिटकरी आदि मिलाने पर स्वच्छ हुए जल को दूसरे साफ बर्तन में बदल देने पर कीचड़ का अत्यन्त अभाव हो जाता है ऐसे ही कर्मों का आत्मा से सर्वथा दूर हो जाना क्षय है।

क्षयोपशम—जैसे कोदो को धोने से कुछ कोदो की मादकता नष्ट हो जाती है कुछ बनी रहती है इसी तरह परिणामो की निर्मलता से कर्मों के एकदेश का क्षय और एकदेश का उपशम होना क्षयोपशम कहलाता है। यद्यपि इस अवस्था में कुछ कर्मों का उदय भी विद्यमान रहता है परन्तु उसकी शक्ति अत्यंत क्षीण हो जाने के कारण वह जीव के गुणों को घातने में समर्थ नहीं होता। इसीलिए कर्मों का उदय होते हुए भी जो जीव के गुण का अश उपलब्ध रहता है उसे क्षयोपशम कहते हैं।

क्षयोपशम-लब्धि—ज्ञानावरणीय कर्म के एकदेश क्षय होने को क्षयोपशम कहते हैं। क्षयोपशम होने पर आत्मा में जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे क्षयोपशम-लब्धि कहते हैं।

क्षायिक-उपभोग—उपभोगान्तराय कर्म के नष्ट हो जाने से आत्मा के अनन्त उपभोग होता है। इसे क्षायिक-उपभोग भी कहते हैं। इसके फलस्वरूप अर्हन्त अवस्था में सिंहासन, छत्र, चमर आदि रूप विभूतिया प्राप्त होती हैं।

क्षायिक-भोग—भोगान्तराय कर्म के नष्ट हो जाने से आत्मा के अनन्त-भोग या क्षायिक-भोग का प्रादुर्भाव होता है। जिसके फलस्वरूप अर्हन्त अवस्था में पुष्प-वृष्टि आदि अतिशय होते हैं।

क्षायिक-दान-दानान्तराय कर्म के नष्ट हो जाने से आत्मा में अनन्त क्षायिक दान प्रगट होता है जिसके फलस्वरूप अनन्त जीवों का उपकार करने की सामर्थ्य होती है।

क्षायिक-चारित्र-चारित्र मोहनीय के क्षय से उत्पन्न होने वाले वीतराग परम यथाख्यात चारित्र को क्षायिक-चारित्र कहते हैं।

क्षायिक-ज्ञान-ज्ञानावरण-कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाले अनन्त ज्ञान को क्षायिक-ज्ञान कहते हैं। इसे केवलज्ञान भी कहते हैं।

क्षायिक-भाव-जो कर्मों के क्षय से उत्पन्न होता है वह क्षायिक-भाव कहलाता है। क्षायिक भाव के नौ भेद हैं—क्षायिक-ज्ञान, क्षायिक-दर्शन, क्षायिक-दान, क्षायिक-लाभ, क्षायिक-भोग, क्षायिक-उपभोग, क्षायिक-वीर्य, क्षायिक-सम्यक्त्व और क्षायिक-चारित्र।

क्षायिक-लाभ-लाभान्तराय कर्म के क्षय से आत्मा में अनन्त लाभ या क्षायिक-लाभ का प्रादुर्भाव होता है जिसके फलस्वरूप अर्हन्त अवस्था में शरीर के योग्य अत्यंत शुभ, सूक्ष्म और असाधारण पुद्गल स्वर्ग प्रतिसमय प्राप्त होते रहते हैं।

क्षायिक-वीर्य-वीर्यान्तराय कर्म के क्षय से आत्मा में अनन्त वीर्य या क्षायिक वीर्य का प्रादुर्भाव होता है जिसके फलस्वरूप कवली भगवान को चराचर अनन्त पदार्थों को जानने की सामर्थ्य प्राप्त होती है।

क्षायिक-सम्यक्त्व-अनन्तानुवर्धी क्रोध-मान-माया-लोभ तथा सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक्-मिथ्यात्व इन सात कर्म प्रकृतियों का क्षय होने से आत्मा में जो निर्मल श्रद्धा उत्पन्न होता है उस क्षायिक-सम्यक्त्व

या क्षायिक-सम्यग्दर्शन कहते हैं।

क्षायोपशमिक-चारित्र—चारित्र-मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से आत्मा मे जो विषय-कषाय से निवृत्ति और व्रतादिक मे प्रवृत्ति रूप परिणाम उत्पन्न होता है उसे क्षायोपशमिक-चारित्र कहते हैं।

क्षायोपशमिक-ज्ञान—मतिज्ञानावरणादि अपने-अपने आवरणी कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले मति, श्रुत, अवधि और मन पर्यय इन चार ज्ञानो को क्षायोपशमिक-ज्ञान कहते हैं।

क्षायोपशमिक-भाव—जो कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है वह क्षायोपशमिक-भाव है। क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेद हैं—मतिज्ञान आदि चार ज्ञान, कुमति आदि तीन अज्ञान, चक्षुदर्शन आदि तीन दर्शन, दान आदि पाच लब्धि, सम्यक्त्व, चारित्र और सयमासयम।

क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ तथा मिथ्यात्व और सम्यक्-मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय और उन्ही के सदवस्थारूप उपशम से तथा सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से उत्पन्न होने वाले तत्त्वार्थ-श्रद्धान को क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व कहते हैं।

क्षितिशयन-व्रत—जीवन पर्यंत प्रासुक भूमि पर या तृणादि से बने सस्तर पर किसी एक करवट से शयन करने की प्रतिज्ञा लेना क्षितिशयन-व्रत कहलाता है। यह मुनियों का एक मूलगुण है।

क्षिप्र-अवग्रह—वस्तु को शीघ्रतापूर्वक अर्थात् जल्दी से जान लेना क्षिप्र-अवग्रह कहलाता है।

क्षीण-कषाय—मोहनीय कर्म का क्षय करने वाले वारहवे गुणस्थानवर्ती निर्ग्रथ वीतराग साधु को क्षीण-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ कहते हैं।

क्षीरस्नावी ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु के हाथ में दिया गया रूखा-सूखा आहार तत्काल दूध के समान हो जाता है या जिसके प्रभाव से साधु के वचन सुनने मात्र से मनुष्य और तिर्यचो के दुखादि शात हो जाते हैं उसे क्षीरस्नावी-ऋद्धि कहते हैं।

क्षुद्रभव—एक अन्तर्मुहूर्त में लब्धपर्याप्तक जीव के जितने भव होते हैं वे क्षुद्रभव कहलाते हैं। एकेन्द्रिय के क्षुद्रभव 66132, दो, तीन व चार इन्द्रिय के 180, पचेन्द्रिय के 24 इस प्रकार कुल 66336 क्षुद्रभव एक अन्तर्मुहूर्त में हो सकते हैं।

क्षुधा-परीषह-जय—जो साधु आहार नहीं मिलने पर या अन्तराय हो जाने पर उत्पन्न होने वाली क्षुधा अर्थात् भूख की वेदना को समतापूर्वक सहन करता है, उसके क्षुधा-परीषह-जय होता है।

क्षुल्लक—जो श्रावक की समस्त ग्यारह प्रतिमाओं का पालन करते हैं, शरीर पर एक चादर और एक कोपीन रूप वस्त्र धारण करते हैं और दिन में एक बार बैठकर थाली या कटोरे में गृहस्थ के द्वारा दिया गया प्रासुक आहार लेते हैं वे क्षुल्लक कहलाते हैं।

क्षेत्र—वर्तमान काल सबधी निवास का नाम क्षेत्र है। किस गुणस्थान या मार्गणा स्थान वाले जीव इस लोक में कहाँ और कितने भाग में पाए जाते हैं यह जानकारी क्षेत्र के द्वारा मिलती है।

क्षेत्र-परिवर्तन—क्षेत्र परिवर्तन के दो भेद हैं—स्वक्षेत्र परिवर्तन और

परक्षेत्र परिवर्तन । स्वक्षेत्र परिवर्तन—कोई जीव सूक्ष्म निगोदिया की जघन्य अवगाहना से उत्पन्न हुआ और अपनी आयु पूर्ण करके मर गया फिर वही जीव एक प्रदेश अधिक अवगाहना लेकर उत्पन्न हुआ ओर आयु पूर्ण करके मर गया । इस प्रकार एक-एक प्रदेश अधिक की अवगाहनाओं को धारण करते-करते महामत्स्य की उत्कृष्ट अवगाहना पर्यन्त अनेक अवगाहना धारण करता है । इस प्रकार छोटी अवगाहना से लेकर बड़ी अवगाहना पर्यन्त सब अवगाहनाओं को धारण करने में जितना काल लगता है उसे स्वक्षेत्र परिवर्तन कहते हैं । परक्षेत्र परिवर्तन—जिसका शरीर आकाश के सबसे कम प्रदेशों पर स्थित है ऐसा एक सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव लोक के आठ मध्यप्रदेशों को अपने शरीर के आठ मध्य प्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ ओर आयु पूर्ण करके मर गया फिर वही जीव पुनः उसी अवगाहना से वहाँ दूसरी बार उत्पन्न हुआ, तीसरी बार उत्पन्न हुआ, इस प्रकार अङ्गुल के असंख्यातवें भाग में आकाश के जितने प्रदेश हैं उतनी बार वही उत्पन्न हुआ । पुनः उसने आकाश का एक-एक प्रदेश बढ़ाकर सब लोक को अपना जन्म क्षेत्र बनाया । इस प्रकार यह सब मिलकर एक परक्षेत्र परिवर्तन होता है । तात्पर्य यह है कि क्षेत्र परिवर्तन रूप ससार में अनेक बार भ्रमण करता हुआ जीव तीनों लोक में ऐसा कोई भी स्थान नहीं है जहाँ पर अनेक अवगाहनाओं के साथ उत्पन्न न हुआ हो ।

क्षेत्र-पूजा—तीर्थकरो के गर्भ, जन्म, आदि पंच-कल्याणक जहाँ-जहाँ हुए हैं उन स्थानों की विधिपूर्वक पूजा करना क्षेत्र-पूजा है ।

क्षेत्र-विपाकी—जिन कर्मों का विपाक अर्थात् फल विग्रह गति के रूप

ग

गङ्गा-नदी—चौदह महानदिया में प्रथम नदी। यह हिमवान् पर्वत पर पद्म-मरोवर के पूर्व द्वार से निकली है। इसके उद्गम स्थान का विस्तार छ योजन और एक कोस तथा गहराई आधा कोस है। यह अपने उद्गम से पाच सौ योजन पूर्व दिशा की ओर बहकर गंगाकूट से लोटती हुई दक्षिण की ओर भरत क्षेत्र में आयी है। अतः यह चौदह हजार सहायक नदियों के साथ पूर्व-लवण-समुद्र में प्रवेश करती है। इसे जाह्नवी, व्योमापगा, आकाशगङ्गा, त्रिमार्गा और मंदाकिनी भी कहते हैं।

गण—दो या तीन चिरदीक्षित साधुओं के समूह को गण कहते हैं।

गणधर—जो तीर्थंकर के पादमूल में समस्त ऋद्धिया प्राप्त करके भगवान की दिव्यध्वनि को धारण करने में समर्थ है और लोक-कल्याण के लिए उस वाणी का सार द्वादशांग श्रुत के रूप में जगत को प्रदान करते हैं, ऐसे महामुनीश्वर 'गणधर' कहलाते हैं। प्राप्त ऋद्धियों के बल से गणधर आहार, नीहार, निद्रा, आलस्य आदि से सर्वथा मुक्त हैं अतः चौबीस घंटे निरंतर भगवान की वाणी हृदयगम करने में सलग्न रहते हैं। ये तद्भव मोक्षगामी होते हैं।

गति-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव मनुष्य, तिर्यच, देव व नारकीपने को प्राप्त करता है उसे गति नामकर्म कहते हैं। मनुष्यगति, तिर्यचगति, देवगति व नरकगति—ये चार गतियाँ हैं।

गन्ध-नामकर्म—जिस नामकर्म के उदय से जीव के शरीर में अपनी

जाति के अनुरूप गध उत्पन्न होती है उसे गध-नामकर्म कहते हैं। यह दो प्रकार का है—सुरभि-गध और दुरभि-गध नामकर्म।

गन्धकुटी—समवसरण में तीर्थकर भगवान के बैठने का स्थान गधकुटी कहलाता है। इसके मध्य में अत्यन्त मनोहर सिंहासन होता है। जिस पर स्थित कमल के ऊपर भगवान अतिरिक्त में विराजमान होते हैं।

गरिमा-ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से वज्र से भी गुरुतर अर्थात् भारी शरीर बनाया जा सके उसे गरिमा-ऋद्धि कहते हैं।

गर्तपूरण-वृत्ति—जिस किसी भी प्रकार से गड्ढा भरने की तरह साधु स्वादिष्ट या अस्वादिष्ट अन्न जल के द्वारा पेट रूपी गड्ढे को भर देते हैं, इसलिए साधु की यह आहार चर्या गर्तपूरण या स्वप्नभरण-वृत्ति कहलाती है।

गर्भकल्याणक—तीर्थकरो के गर्भ में आने पर होने वाला एक उत्सव। इस अवसर पर इन्द्र आकर तीर्थकर के माता-पिता को भक्तिपूर्वक सिंहासन पर बैठाकर उनका अभिषेक-सम्मान आदि करते हैं और तीर्थकर का स्मरण कर तीन प्रदक्षिणा देते हैं।

गर्भजन्म—माता के उदर में रज और वीर्य के परस्पर मिश्रण को गर्भ कहते हैं। इस गर्भ को ही शरीर रूप से ग्रहण करके जीवों का उत्पन्न होना गर्भजन्म है। जरायुज, अण्डज और पोतज ये तीन गर्भजन्म के भेद हैं। गर्भजन्म मनुष्य और तिर्यच के ही होता है।

गर्हा—गुरु के समक्ष अपने दोष प्रकट करना गर्हा कहलाती है।

गारव—गर्व या बड़प्पन को गारव कहते हैं। यह तीन प्रकार का

है—ऋद्धि-गारव, शब्द-गारव, सात-गारव या रस-गारव ।

गिरिनार—गुजरात प्रान्त के जूनागढ में स्थित एक पर्वत जहा तीर्थकर नेमिनाथ ने दीक्षा ग्रहण करके क्रमशः केवलज्ञान तथा मोक्ष प्राप्त किया । इसका दूसरा नाम उर्जयन्तगिरि भी है ।

गुण—जो एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य से प्रथक् करता है उसे गुण कहते हैं । गुण सदा द्रव्य के आश्रित रहते हैं अर्थात् द्रव्य की प्रत्येक अवस्था में उसके साथ रहते हैं । प्रत्येक द्रव्य में अनेक गुण होते हैं । कुछ साधारण या सामान्य गुण होते हैं और कुछ असाधारण या विशेष गुण । अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व और प्रदेशत्व—ये सभी द्रव्यों में पाए जाने वाले सामान्य गुण हैं (चेतना, ज्ञान, दर्शन आदि जीव के विशेष गुण हैं तथा रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि पुद्गल के विशेष गुण हैं । गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व और अवगाहनत्व—ये क्रमशः धर्म, अधर्म, काल और आकाश के विशेष गुण हैं ।)

गुणप्रत्यय—सम्यग्दर्शन से युक्त अणुव्रत और महाव्रत रूप गुण जिस अवधिज्ञान की उत्पत्ति में प्रमुख है वह गुण-प्रत्यय-अवधिज्ञान कहलाता है । मनुष्य और तिर्यचो के गुण-प्रत्यय-अवधिज्ञान ही संभव है ।

गुणव्रत—जो गुणों को बढ़ाने वाले व्रत हैं वे गुणव्रत कहलाते हैं या जो अणुव्रतों का उपकार करते हैं उन्हें गुणव्रत कहते हैं । दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत—ये तीन गुणव्रत हैं ।

गुणश्रेणी-निर्जरा—जब कर्मों की निर्जरा प्रतिसमय क्रमशः असंख्यात-गुणी-असंख्यात-गुणी हो तो इसे गुणश्रेणी-निर्जरा कहते हैं ।

गुणस्थान—मोह और योग के माध्यम से जीव के परिणामों में होने वाले उतार-चढ़ाव को गुणस्थान कहते हैं। जीवों के परिणाम यद्यपि अनन्त हैं परन्तु उन सभी को चौदह श्रेणियों में विभाजित किया गया है। चौदह गुणस्थानों के नाम इस प्रकार हैं—मिथ्यादृष्टि, सासादन-सम्यग्दृष्टि, सम्यग्-मिथ्यादृष्टि, अविरत-सम्यग्दृष्टि, सयतासयत, प्रमत्त-सयम, अप्रमत्त-सयत, अपूर्वकरण-शुद्धि-सयत, अनिवृत्तिकरण-शुद्धि-सयत, सूक्ष्म-साम्पराय-शुद्धि-सयत, उपशान्त-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ, क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ, सयोग-केवली-जिन और अयोग-केवली-जिन।

गुप्ति—ससार के कारणभूत रागादि से जो आत्मा की रक्षा करे उसे गुप्ति कहते हैं। अथवा सम्यक् प्रकार से योगों का निग्रह करना गुप्ति है। अथवा मन, वचन काय की स्वच्छद प्रवृत्ति को रोकना गुप्ति है। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति ये तीन गुप्ति हैं।

गुरु—गुरु शब्द का अर्थ महान् है। लोक में अध्यापक व माता-पिता को गुरु कहते हैं। मोक्षमार्ग में आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीन गुरु हैं। अर्हन्त भगवान् त्रिलोक गुरु हैं। शिष्यों को जिनदीक्षा या प्रव्रज्या देने वाले आचार्य को दीक्षा-गुरु कहते हैं। जो प्रायश्चित्त आदि देकर शिष्य को दोष-मुक्त करते हैं और वैराग्यजनक परमागम द्वारा शिष्य का पोषण करते हैं वे निर्यापक कहलाते हैं। उन्हें शिक्षा-गुरु या श्रुत-गुरु भी कहते हैं।

गुरुमूढता—हिसादिपाप-क्रियाओं में और आरम्भ-परिग्रह में लिप्त रहने वाले साधुओं को गुरु मानकर उनकी भक्ति, वदना, प्रशंसा आदि करना गुरुमूढता है। इसे समय-मूढता भी कहते हैं।

गुरुपास्ति—आचार्य आदि वीतरागी गुरुओं की पूजा करना तथा उनकी सेवा में सदा तत्पर रहना गुरुपास्ति है ।

गृहीत-मिथ्यात्व—दूसरे के द्वारा मिथ्या उपदेश सुनकर जीवादि पदार्थों के विषय में जो अश्रद्धान रूप भाव उत्पन्न होता है उसे गृहीत-मिथ्यात्व कहते हैं ।

गोचरी—गृहस्वामी के द्वारा लायी गई घास को खाते समय जैसे गाय घास को ही देखती है लाने वाले के रूप रंग या स्थान की सजावट आदि को नहीं देखती उसी प्रकार साधु भी आहार देने वाले के रूप-रंग, गरीबी-अमीरी आदि को न देखते हुए आहार ग्रहण कर लेते हैं इसलिए साधु की आहार चर्या गोचरी-वृत्ति कहलाती है ।

गोत्र कर्म—1 जिस कर्म के उदय से जीव उच्च और नीच कहा जाता है या उच्च और नीच कुल में उत्पन्न होता है वह गोत्र-कर्म है । इसके दो भेद हैं—उच्च-गोत्र और नीच-गोत्र ।

ग्रामदाह—जिस ग्राम में साधु आहार के लिए गए हैं यदि वहां अग्नि आदि का प्रकोप हो जाए तो यह ग्रामदाह नाम का अतराय है ।

ग्रेव्यक—वैमानिक देवों के जो विमान पुरुष की ग्रीवा के समान हैं या जो लोक के ग्रीवा में स्थित हैं वे ग्रेव्यक विमान कहलाते हैं ।

ग्लान—जिनका शरीर रोग आदि से पीड़ित हो उस साधु को ग्लान कहते हैं ।

घ

घड़ी-चौबीस मिनिट की एक घड़ी होती है। दो घड़ी का एक मुहूर्त और तीस मुहूर्त का एक दिन-रात होता है।

घातिया-कर्म-जीव के गुणों का घात करने वाले अर्थात् गुणों को ढकने वाले या विकृत करने वाले ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय और मोहनीय इन चार कर्मों को घातिया-कर्म कहते हैं।

घृतस्नावी ऋद्धि-जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु के हाथ में दिया गया रुखा-सूखा आहार तत्काल घी के समान रसवाला हो जाता है उसे घृतस्नावी या सर्पिस्नावी ऋद्धि कहते हैं।

घोरतप ऋद्धि-जिस ऋद्धि के प्रभाव से ज्वर आदि से पीड़ित होने पर भी साधु अत्यन्त कठिन तप करने में सक्षम होते हैं वह घोर-तप ऋद्धि है।

घोर-पराक्रम-तप ऋद्धि-जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु अनुपम तप करते हुए तीन लोक के सहार की शक्ति से सपन्न और सहसा समुद्र के जल को सुखा देने की सामर्थ्य से युक्त होते हैं वह घोर पराक्रम-तप-ऋद्धि है।

घोर-ब्रह्मचर्य-तप ऋद्धि-जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु सब गुणों से सपन्न होकर अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, उसे घोर-ब्रह्मचर्य-तप ऋद्धि कहते हैं। इसके प्रभाव से साधु के समीप चौरादिक की बाधाएं और महायुद्ध आदि नहीं होते।

घ्राण-इन्द्रिय-जिसके द्वारा ससारी जीव गंध का ज्ञान करते हैं उसे घ्राण-इन्द्रिय कहते हैं।

च

चक्रवर्ती—आर्य-खण्ड आदि छह खण्डों के अधिपति और वत्तीस हजार राजाओं के स्वामी को चक्रवर्ती कहते हैं। ये नौ निधियो और चौदह रत्नों के स्वामी होते हैं।

चक्षु-इन्द्रिय—जिसके द्वारा ससारी जीव पदार्थों को देखता है उसे चक्षु-इन्द्रिय कहते हैं।

चक्षुदर्शन—चक्षु इन्द्रिय के द्वारा पदार्थ का ज्ञान होने से पूर्व जो सामान्य प्रतिभास होता है वह चक्षुदर्शन है।

चतुरिन्द्रिय-जीव—जिनके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रिया होती हैं वे चतुरिन्द्रिय जीव कहलाते हैं। जैसे—मक्खी, भौरा आदि।

चतुर्दशपूर्वी—जो साधु संपूर्ण आगम अर्थात् ग्यारह अङ्ग व चौदह पूर्व में पारगत हैं और श्रुतकेवली कहलाते हैं उनके चतुर्दशपूर्वी नामक बुद्धि ऋद्धि होती है।

चतुर्मुखपूजा—राजाओं द्वारा जो सर्व कल्याणकारी महायज्ञ किया जाता है उसे चतुर्मुखपूजा कहते हैं। इसे सर्वतोभद्र पूजा भी कहते हैं।

चतुर्विंशतिस्तव—जिसमें चौबीस तीर्थकरो की वदना करने की विधि, उनके नाम, सस्थान, ऊँचाई, पाँच कल्याणक, चौतीस अतिशयो के स्वरूप और वदना की सफलता का वर्णन किया गया है वह चतुर्विंशतिस्तव नाम का अङ्ग-बाह्य कहलाता है।

चतुर्विध-संघ—मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका इन चारों के समुदाय को चतुर्विध-संघ कहते हैं।

चन्द्रप्रज्ञप्ति—चन्द्रमा की आयु, परिवार, ऋद्धि, गति और विम्ब की ऊर्चाई आदि का वर्णन करने वाला चन्द्रप्रज्ञप्ति नाम का परिकर्म है।

चन्द्रप्रभ—अष्टम तीर्थकर। इनका जन्म इक्ष्वाकु वंशी राजा महासेन और रानी लक्ष्मणा के यहाँ हुआ। इनकी आयु दस लाख वर्ष पूर्व और शरीर की ऊर्चाई एक सौ पचास धनुष थी। शरीर की आभा श्वेत थी। एक दिन शरीर की नश्वरता का चिन्तन करते-करते विरक्त होकर गृहत्याग कर दिया और जिनदीक्षा ले ली। तीन माह तक कठिन तपस्या के उपरांत इन्हें केवलज्ञान हुआ। इनके समवसरण में दत्त आदि तेरानवे गणधर, लगभग तीन लाख मुनि, तीन लाख अस्सी हजार आर्यिकाएँ, तीन लाख श्रावक व पाँच लाख श्राविकाएँ थीं। इन्होंने सम्मैदशिखर से निर्वाण प्राप्त किया।

चपापुर—बिहार प्रांत की एक नगरी जहाँ तीर्थकर वासुपूज्य के पाँचों कल्याणक हुए।

चरणानुयोग—जिसमें मुख्य रूप से गृहस्थ और मुनियों के व्रत, नियम और समय का वर्णन किया गया हो वह चरणानुयोग है। इस अनुयोग की कथन पद्धति का प्रयोजन यह है कि जीव पाप कार्य को छोड़कर व्रत नियम रूप धर्म कार्य में लगे, कष्टों को मँद करें और क्रमशः वीतराग-भाव को प्राप्त करें।

चरम-शरीर—चरम का अर्थ अंतिम है। जिस जीव को उसी भव से मोक्ष प्राप्त होना है उस जीव का शरीर चरम-शरीर कहलाता है।

चर्या-परीपह-जय—जो साधु अपने गुरु की आज्ञा से अतिथि की तरह एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में गमन करता है और मार्ग में तीक्ष्ण ककड,

काटे आदि के विधने से उत्पन्न हुई पीडा को समता पूर्वक सहन करता हुआ अपने छह आवश्यको का पालन दृढता पूर्वक करता है उस साधु को यह चर्या-परीषह-जय है।

चल-दोष—जल में उठने वाली तरंगों के समान श्रद्धान का चलायमान होना चल-दोष है। जैसे जल में अनेक लहरे उठती हैं और शांत हो जाती हैं उसी प्रकार क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि के मन में अनेक विचार उठते हैं। यद्यपि सभी तीर्थकर या अर्हन्त भगवान एक समान होते हैं पर कभी ऐसा विचार आ जाता है कि श्री शान्तिनाथजी शान्ति देने वाले और श्री पार्श्वनाथ जी विघ्न-बाधा दूर करने वाले हैं। यही क्षयोपशम सम्यग्दर्शन का 'चल' नामक दोष है।

चलित-रस—घी, दूध, दही आदि रसों का स्वाद बिगड़ जाने पर उन्हें चलित-रस कहते हैं। चलित रस अभक्ष्य है।

चारित्र-मोहनीय कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव के असयम भाव होता है वह चारित्र-मोहनीय कर्म है अथवा बाह्य में पापों से निवृत्ति और अंतरंग में कषाय का अभाव होना चारित्र है। जिस कर्म के उदय से जीव चारित्र को ग्रहण नहीं कर पाता वह चारित्र-मोहनीय कर्म कहलाता है। चारित्र मोहनीय कर्म दो प्रकार का है—कषाय वेदनीय और नो कषाय वेदनीय। कषाय के सोलह भेद हैं—अनन्तानुबन्धी-क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यान-क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यान-क्रोध, मान, माया, लोभ, सञ्चलन-क्रोध, मान, माया, लोभ। नो कषाय के नौ भेद हैं—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरुष वेद और नपुंसक वेद।

चारित्र-विनय—महान आत्माओं के श्रेष्ठ चारित्र का वर्णन सुनते ही रोमांचित होकर अतरंग भक्ति प्रकट करना, प्रणाम करना, मस्तक पर अजुलि रखकर आदर प्रकट करना और श्रद्धा-पूर्वक स्वयं चारित्र के पालन करने में तत्पर रहना चारित्र-विनय है।

चारित्राचार—पाच महाव्रत, पाच समिति और तीन गुप्ति रूप सम्यक्-चारित्र का पालन करना चारित्राचार कहलाता है।

चिकित्सा-दोष—यदि साधु चिकित्सा के उपाय बताकर आहार प्राप्त करे तो यह चिकित्सा-दोष है।

चित्रा-पृथिवी—मध्यलोक की एक हजार योजन मोटी पृथिवी, चित्रा-पृथिवी कहलाती है। यह चित्र-विचित्र अनेक प्रकार की धातुओं, मृत्तिका, पाषाण और अनेक मणियों से युक्त है इसलिए इसे चित्रा-पृथिवी कहते हैं।

चूर्ण-दोष—यदि साधु शरीर की शोभा बढ़ाने वाले विभिन्न प्रकार के चूर्णों की विधि बताकर आहार प्राप्त करे तो यह चूर्ण-दोष है।

चूलिका—जिसमें एक, दो या सब अनुयोग-द्वारों द्वारा कहे गये विषय की विशेष या संक्षिप्त जानकारी दी जाती है उसे चूलिका कहते हैं। चूलिका के पाच भेद हैं—जलगता, आकाशगता, रूपगता, स्थलगता और मायागता।

चेतना—अनुभव रूप भाव का नाम चेतना है या जिस शक्ति के द्वारा आत्मा ज्ञाता-दृष्टा या कर्ता-भोक्ता होता है उसे चेतना कहते हैं। चेतना जीव का स्वभाव है। चेतना तीन प्रकार की मानी गयी

ह—ज्ञान-चेतना, कर्म-चेतना, कर्मफल-चेतना ।

चैत्यालय—जिनविव को चेत्य कहते हैं । चेत्य के आश्रयभूत स्थान को जिनालय या चैत्यालय कहा जाता है । ये दो प्रकार के होते हैं—कृत्रिम चैत्यालय और अकृत्रिम-चैत्यालय । मनुष्य लोक में मनुष्यों के द्वारा निर्मित जिनमंदिर कृत्रिम-चैत्यालय कहलाते हैं । शाश्वत स्वप्रतिष्ठित और सदैव प्रकाशित रहने वाले जिन-मंदिर अकृत्रिम-चैत्यालय कहलाते हैं ।

चैत्यवृक्ष—जिस वृक्ष के आश्रित अर्हन्त प्रतिमाएँ होती हैं उसे चैत्यवृक्ष कहते हैं । एक-एक चैत्यवृक्ष के आश्रित आठ प्रातिहार्य से युक्त चार-चार मणिमय अर्हन्त प्रतिमाएँ होती हैं । समवसरण में अशोक, सप्तच्छद, चम्पक और आम्र—ऐसे चार प्रकार के चैत्यवृक्ष होते हैं । इनकी ऊँचाई अपने-अपने तीर्थकर से वारह गुनी होती है ।

चौर्यानन्द—तीव्र क्रोध व लोभ के वशीभूत होकर निरन्तर चोरी का विचार करना, चोरी का उपदेश देना, चोरी करके हर्षित होना, चोरी के माल का क्रय-विक्रय आदि करना चौर्यानन्द नाम का रोद्र-ध्यान है ।

च्यावित—अकाल मरण के द्वारा जीव का जो शरीर असमय में ही छूट जाता है वह च्यावित-शरीर है ।

च्युत—आयु पूर्ण हो जाने पर पके हुए फल के समान जीव का जो शरीर मृत छूट जाता है उसे च्युत-शरीर कहते हैं ।

छ

छद्मस्थ—ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय को छद्म कहते हैं। उसमें जो रहते हैं उन्हें छद्मस्थ कहते हैं। आशय यह है कि जो जीव ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय आदि घातिया कर्मों से युक्त हैं वे छद्मस्थ कहलाते हैं। केवलज्ञान होने से पूर्व सभी जीव छद्मस्थ या ससारस्थ हैं।

छर्दि—आहार के समय यदि साधु को वमन हो जाए तो यह छर्दि नाम का अन्तराय है।

छाया—प्रकाश के आवरण रूप शरीरादि की जो परछाई पड़ती है उसका नाम छाया है। छाया दो प्रकार की है—दर्पण में बने प्रतिविव रूप और रंगों से निर्मित आकृति या चित्र रूप।

छिन्न-निमित्त—किसी के द्वारा छेदे गये वस्त्र, शस्त्र आदि को देखकर तथा खण्डित भवन, नगर एवं देश आदि को देखकर शुभ-अशुभ एवं सुख-दुःखादि को जान लेना छिन्न-निमित्तज्ञान कहलाता है।

छेद—पूर्व दीक्षा को छेदना अर्थात् दीक्षा को एक दिन, एक पक्ष, एक महीना आदि कम कर देना छेद नाम का प्रायश्चित्त है। जो साधु व्रतों में बार-बार दोष लगाता है तथा सामर्थ्यवान और अभिमानी है उसे छेद-प्रायश्चित्त दिया जाता है।

छेदोपस्थापना-चारित्र—1 प्रमादवश व्रतों में दोष लग जाने पर प्रायश्चित्त आदि द्वारा उसका शोधन करके पुनः व्रतों में स्थिर होना

छेदोपस्थापना चारित्र है । 2 निर्विकल्प साम्य अवस्था में अधिक समय न रह पाने पर साधक विकल्प रूप अर्थात् भेद रूप मूलगुणों का आलम्बन लेता है यही छेदोपस्थापना-चारित्र है ।

ज

जङ्घाचारण-ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु पृथिवी से चार अंगुल ऊपर आकाश में घुटनों को मोड़े विना गमन करने में समर्थ होते हैं वह जङ्घाचारण-ऋद्धि कहलाती है।

जन्तु-वध—साधु के आहार करते समय किसी जीव-जन्तु आदि का घात हो जाने पर जन्तु-वध नाम का अन्तराय होता है।

जन्म—जीव के नवीन शरीर की उत्पत्ति होना जन्म कहलाता है। जीवों का जन्म तीन प्रकार से होता है—गर्भ-जन्म, सम्पूर्ण-जन्म और उपपाद-जन्म।

जन्म-कल्याणक—तीर्थकर के जन्म का उत्सव जन्मकल्याणक कहलाता है। इस अवसर पर सोधर्म इन्द्र आदि सभी इन्द्र व देवगण भगवान का जन्मोत्सव मनाने बड़ी धूमधाम से पृथिवी पर आते हैं। कुवेर नगर की अद्भुत शोभा करता है। सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से इन्द्राणी भगवान की माता को मायामयी निद्रा में सुलाकर बालक भगवान को लाती है और इन्द्र की गोद में देती है। ऐरावत हाथी पर भगवान को लेकर इन्द्र सुमेरु पर्वत की ओर जाता है। वहाँ पहुँचकर पांडुक शिला पर भगवान को विराजमान करके क्षीर समुद्र से लाए गए जल के द्वारा एक हजार आठ कलशों से अभिषेक करता है फिर बालक भगवान को दिव्य-वस्त्राभूषणों से अलंकृत कर उत्सवपूर्वक नगर में लौट आता है। इस अवसर पर इन्द्र भक्ति-भाव से नृत्य आदि विभिन्न आश्चर्यजनक लीलाएँ करता है।

जम्बूद्वीप—मनुष्य लोक के ठीक मध्य में एक लाख योजन विस्तार वाला गोलाकार जम्बूद्वीप नाम का द्वीप है। यह जम्बूद्वीप सात क्षेत्रों में विभक्त है। भरत, हेमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हेरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं। जम्बूद्वीप के मध्य में एक लाख योजन ऊँचा सुमेरु पर्वत है और जम्बूद्वीप को चारों ओर से घेरे हुए लवण समुद्र नाम का समुद्र है।

जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति—जम्बूद्वीप में मनुष्य, तिर्यच आदि का तथा पर्वत, नदी, वेदिका, अकृत्रिम चैत्यालय आदि का वर्णन जिसमें किया गया हो उसे जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति कहते हैं।

जय-जिनेन्द्र—जैनो में परस्पर विनय और प्रेमभाव प्रकट करने के लिए जय-जिनेन्द्र शब्द बोला जाता है।

जया-वाचना—जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे गए सिद्धान्त के अर्थ की व्याख्या करना जया-वाचना कहलाती है।

जरायुज—रक्त और मांस से बने जाल के समान आवरण को जरायु कहते हैं। गर्भ-जन्म लेने वाले जो जीव जरायु सहित उत्पन्न होते हैं वे जरायुज कहलाते हैं।

जलकाय—जलकायिक जीव से रहित जल को जलकाय कहते हैं।

जलकायिक-जीव—जल ही जिसका शरीर है उस एकन्द्रिय जीव को जलकायिक-जीव कहते हैं।

जलगता-चूलिका—जल में गमन करने और जलस्तम्भ आदि में कारणभूत मत्त, तत्र और तपश्चरण रूप अतिशय का जिसमें वर्णन

होता है उसे जलगता-चूलिका कहते हैं।

जलगालन—जल को उपयोग में लेने से पहले स्वच्छ सफेद दुहरं छन्ने से छानना जलगालन कहलाता है।

जल-जीव—जो जीव जलकायिक में उत्पन्न होने के लिए विग्रहगति में जा रहा है उसे जल-जीव कहते हैं।

जल्लौषधि-ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु के शरीर पर पसीने के माध्यम से संचित हुई धूल भी ओषधि रूप हो जाती है उसे जल्लौषधि-ऋद्धि कहते हैं।

जाति—माता के वश को जाति कहते हैं।

जाति नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव एकेंद्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय कहलाता है वह जाति नामकर्म है।

जातिस्मरण—अपने पूर्व जन्म की किसी घटना विशेष का स्मरण हो आना जातिस्मरण कहलाता है।

जानुव्यतिक्रम—यदि साधु घुटने के बराबर ऊँचे काष्ठ आदि को लाघ कर आहार के लिए जाए तो यह जानुव्यतिक्रम नाम का अन्तराय है।

जान्वध-परामर्श—यदि कारणवश साधु आहार के समय अपने घुटने के नीचे हाथ से स्पर्श करे तो यह जान्वध परामर्श नाम का अन्तराय है।

जिन—जिन्होंने काम, क्रोध, मोह आदि विकारों को जीत लिया है वे

जिन कहलाते हैं । जिन दो प्रकार के हैं—सकल जिन और देश-जिन ।
आचार्य, उपाध्याय और माधु देश-जिन हैं तथा अर्हन्त और सिद्ध
भगवान् सकल-जिन हैं ।

जिनकल्पी—जिन्होंने राग, द्वेष और माह को जोत लिया है जो उपसर्ग
व परीपह को समतापृवक सहन करते हैं और जो जिनन्द्र भगवान्
के समान विहार आदि चया करते हैं ऐंम उत्तम सहनन और सामायिक
चारित्र्य के धारण महामुनि जिनकल्पी कहलाते हैं ।

जिनविव—जिनन्द्र भगवान् की निरावरित, निर्विकार/वीतराग प्रतिमा
को जिनविव कहते हैं ।

जिनलिंग—जिनेन्द्र भगवान् के समान अंतरंग में वीतरागता और बाह्य
में परिग्रह से रहित निर्विकार यथाज्ञात बालकवत् रूप धारण करना
जिनलिंग या जिनमुद्रा कहलाती है ।

जिनवाणी—सब जीवों के हित का उपदेश देने वाली श्री अर्हन्त भगवान्
की वाणी ही जिनवाणी कहलाती है । तत्त्व का स्वरूप बताने वाली
यह जिनवाणी द्वादशांग रूप होती है ।

जिनालय—देखिए—चेत्यालय ।

जीव—जो जानता-देखता है उसे जीव कहते हैं । या जिसमें चेतना है
वह जीव है । जीव दो प्रकार के हैं—ससारी जीव और मुक्त जीव ।
जो जीव ससार में निरंतर जन्म-मरण का दुःख भोग रहे हैं वे ससारी
जीव हैं । जो जीव अपने आत्म-पुरुषार्थ के द्वारा जन्म-मरण के चक्र
से मुक्त होकर ससार से पार हो जाते हैं वे मुक्त-जीव कहलाते हैं ।

जीवविपाकी—जिन कर्मों का विपाक अर्थात् फल मुख्यतः जीव में होता

है वे जीवविपाकी कर्म कहलाते हैं। इन कर्मों के उदय से जीव के ज्ञान-दर्शन आदि गुण ढक जाते हैं।

जीव-समास—जीव और उनके भेद-प्रभेदों का जिसमें सग्रह किया जाए उसे जीव-समास कहते हैं। चौदह जीव-समास प्रसिद्ध हैं—एकैन्द्रिय वादर व सूक्ष्म (पर्याप्त-अपर्याप्त), द्वीन्द्रिय (पर्याप्त-अपर्याप्त), त्रीन्द्रिय (पर्याप्त-अपर्याप्त), चतुरिन्द्रिय (पर्याप्त-अपर्याप्त) एवं पचेन्द्रिय-सञ्जी व असञ्जी (पर्याप्त-अपर्याप्त)।

जीव-सपात—आहार करते समय यदि साधु के दोनों पैरों के बीच में कोई जीव गिर जाए तो यह जीव-सपात नाम का अन्तराय है।

जीवानी—जल छानने के पश्चात् शेष बचे जल को सावधानी-पूर्वक उसी जलाशय में डालना यह जीवानी कहलाती है।

जुगुप्सा—घृणा या ग्लानि होना जुगुप्सा है। जिस कर्म के उदय से अपने दोषों को ढकने और दूसरे के दोषों को प्रकट करने का भाव उत्पन्न होता है या दूसरे के प्रति घृणा होती है वह जुगुप्सा नामक नो-कषाय है।

जुहार—परस्पर नमस्कार करने के लिए जुहार शब्द का प्रयोग किया जाता है। जुहार शब्द का अर्थ है युग के प्रारम्भ में सर्व सकटों को हरने वाले और सब जीवों की रक्षा करने वाले भगवान् ऋषभदेव को प्रणाम हो।

जैन—जिन्होंने काम, क्रोध, मोह आदि विकारों को जीत लिया है वे जिन या जिनेन्द्र कहलाते हैं। जिनेन्द्र भगवान् के उपासक को जैन

कहते हैं।

जैनदर्शन—जिसके द्वारा जीवन का और जीवन के विकास का ज्ञान प्राप्त किया जाए उसे दर्शन कहते हैं। जिनेन्द्र भगवान के द्वारा प्रतिपादित दर्शन ही जैनदर्शन है। जैनदर्शन आत्मा, परमात्मा और पुनर्जन्म में विश्वास करता है। जैनदर्शन के अनुसार आत्मा की परम-विशुद्ध अवस्था ही परमात्मा है जिसे प्रत्येक आत्मा अपने आत्म-पुरुषार्थ के द्वारा प्राप्त कर सकता है।

जैनाचार—जिनेन्द्र भगवान के द्वारा जो श्रावक और साधु के योग्य आचरण का उपदेश दिया गया है वह जैनाचार है। जैनाचार का मूल आधार अहिंसा है।

ज्ञात-भाव—‘इसे मारना है, या इसे बचाना है’—इस प्रकार जानबूझकर प्रवृत्ति करना ज्ञात-भाव है।

ज्ञातृधर्मकथाङ्ग—जिसमें अनेक आख्यान और उपाख्यानों का वर्णन है वह ज्ञातृधर्मकथाङ्ग है।

ज्ञान—जो जानता है वह ज्ञान है या जिसके द्वारा जाना जाए वह ज्ञान है। या जानना मात्र ही ज्ञान है। ज्ञान जीव का विशेष गुण है। सम्यग्दर्शन के सद्भाव में यह सम्यग्ज्ञान कहलाता है और मिथ्यात्व के उदय में यह मिथ्याज्ञान हो जाता है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पांच सम्यग्ज्ञान के भेद हैं। कुमति, कुश्रुत और विभग-अवधिज्ञान ये तीन मिथ्याज्ञान हैं। इस प्रकार ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं। ज्ञान स्व-पर प्रकाशक होता है।

ज्ञान-कल्याणक—तीर्थकरो के केवलज्ञान के अवसर पर होने वाला उत्सव ज्ञान-कल्याणक कहलाता है। इस अवसर पर सोधर्म इन्द्र की आज्ञा से कुवेर समवसरण की रचना करता है जिसमे देव, मनुष्य और तिर्यच जीव एक साथ बैठकर धर्मश्रवण करते हैं। तीर्थकर भगवान का विहार बड़ी धूमधाम से होता है। भगवान के श्रीचरणों में देवगण तत्परता से सुवर्णमय कमलों की रचना करते जाते हैं। आगे-आगे धर्मचक्र चलता है। सारा मार्ग आठ दिव्य मंगल द्रव्यों से शोभित होता रहता है। ऋषि/मुनि भगवान के पीछे-पीछे चलते हैं। परस्पर विरोध रखने वाले जीव भी विरोध भूल जाते हैं। अत्यन्त सुखद और आत्मीय वातावरण निर्मित हो जाता है।

ज्ञान-चेतना—केवलज्ञान रूप शुद्ध चेतना को ज्ञान-चेतना कहते हैं।

ज्ञानदान—धर्म से अनभिज्ञ जीवों के लिए धर्म का उपदेश देना तथा आत्म-ज्ञान के साधनभूत शास्त्रादि सुपात्र को देना ज्ञानदान कहलाता है।

ज्ञान-प्रवाद—जिसमें मति, श्रुत आदि पाच ज्ञानों और पाच इन्द्रियों के विभाग आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है वह ज्ञान-प्रवाद नाम का पाचवा पूर्व है।

ज्ञान-विनय—1. सम्यग्ज्ञान को अत्यंत सम्मान-पूर्वक ग्रहण करना, उसका अभ्यास करना और उसका स्मरण रखना ज्ञान-विनय है। 2. ज्ञान में, ज्ञान के उपकरण शास्त्र आदि में एवं ज्ञानवान् पुरुषों में भक्ति और आदर-भाव रखना तथा उनके अनुकूल आचरण करना ज्ञान-विनय है।

ठ

ठ ठ –स्थापित करना, पूजा के समय अपने हृदय में भगवान का स्थापित करने के लिए ठ ठ शब्द का प्रयोग होता है।

ण

णमोकार-मंत्र—“णमो अरिहताण, णमो सिद्धाण, णमो आयरियाण,
णमो उवज्झायाण, णमो लोए सव्व साहूण”—यह णमोकार मंत्र है।
इसका अर्थ है—अर्हन्तो को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो,
आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो और लोक में
सर्व साधुओं को नमस्कार हो। यह अनादि-निधन मंत्र है। षट्खंडागम
ग्रंथ के मंगलाचरण के रूप में आचार्य पुष्पदन्त एवं भूतबलि स्वामी
ने ईसा की पहली शताब्दी में इसे प्राकृत भाषा में पहली बार लिपिबद्ध
किया।

त

तत्त्व—जिस वस्तु का जो भाव है वही तत्त्व है। आशय यह है कि जो पदार्थ जिस रूप में अवस्थित है उसका उस रूप होना, यही तत्त्व शब्द का अर्थ है। तत्त्व सात है—जीव, अजीव, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा और मोक्ष।

तत्त्ववती-धारणा—वारुणी धारणा के पश्चात् वह योगी सप्त धातु से रहित पूर्ण चद्र के समान निर्मल अपने आत्मा का ध्यान करता है, यह अंतिम तत्त्ववती-धारणा है।

तदाकार-स्थापना—धातु या पाषाण आदि में तीर्थकर आदि की वास्तविक आकार सहित मूर्ति बनाकर स्थापना करना तदाकार स्थापना कहलाती है।

तदुभय—1 दोषों को दूर करने के लिए आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों एक साथ करना तदुभय नाम का प्रायश्चित्त है। 2 अर्थ को ठीक-ठीक समझते हुए शुद्ध पाठ आदि पढ़ना तदुभय नाम का ज्ञानाचार है।

तन्तुचारण ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु मकड़ी के तंतु के ऊपर चरण रखते हुए उसे बिना बाधा पहुँचाये गमन करने में समर्थ होते हैं वह तन्तुचारण-ऋद्धि कहलाती है।

तप—इच्छाओं का निरोध करना तप है। तप के द्वारा कर्मों की निर्जरा होती है। तप करने का उद्देश्य भी यही है। तप दो प्रकार का है—वाह्य तप और आभ्यन्तर तप।

तप-प्रायश्चित्त—उपवास आदि तप के द्वारा अपने व्रतो में लगे दोषों की शुद्धि करना तप नाम का प्रायश्चित्त है।

तप-विनय—तप में और श्रेष्ठ तपस्वी जनों में भक्ति और अनुराग रखना तथा जो छोटे तपस्वी हैं उनकी एव चारित्रवान् मुनियों की अवहेलना नहीं करना तप-विनय है।

तपाचार—उत्साहपूर्वक बारह प्रकार के तप का आचरण करना तपाचार है।

तप्त-तप ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु के द्वारा खाया हुआ अन्न आदि मल मूत्र के रूप में परिणत नहीं होता वह तप्त-तप ऋद्धि कहलाती है।

तर्क—व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं। जैसे जहा-जहा धूम है वहा-वहा अग्नि है और जहा-जहा अग्नि नहीं है वहा-वहा धूम भी नहीं है।

तादात्म्य-संबंध—जो निश्चय से समस्त अवस्थाओं में जिस स्वरूप में व्याप्त रहे उसका उसके साथ तादात्म्य-संबंध होता है जैसे—अग्नि का उष्णता के साथ तादात्म्य-संबंध है। तादात्म्य संबंध दो प्रकार का है—त्रैकालिक तादात्म्य और क्षणिक तादात्म्य। द्रव्य का अपने गुणों के साथ त्रैकालिक तादात्म्य होता है, जैसे—जीव का ज्ञान आदि अनन्त गुणों के साथ त्रैकालिक तादात्म्य है। द्रव्य का अपनी पर्यायों के साथ क्षणिक-तादात्म्य रहता है, जैसे—रागद्वेष आदि विकारी भावों के साथ जीव का क्षणिक तादात्म्य-संबंध है।

तामसिक-दान—जिसमे पात्र-अपात्र का विवेक न किया गया हो, अतिथि का सत्कार न किया गया हो, जो निन्दनीय हो और सेवका से दिलाया गया हो, ऐसे दान को तामसिक-दान कहते हैं।

तिर्यच—पाप कर्म के उदय से जो तिरोभाव को प्राप्त होते हैं वे तिर्यच हैं। तिरोभाव का अर्थ है नीचे रहना, बोझा ढोना। वनस्पति आदि एकेन्द्रिय, कीट पतंग आदि विकलेन्द्रिय और जलचर, थलचर, नभचर आदि पचेन्द्रिय के भेद से तिर्यच अनेक प्रकार के होते हैं। श्रेष्ठ जाति के हाथी, घोड़े, सिंह आदि तिर्यच जीवों में अणुव्रत पालन करने की क्षमता रहती है।

तीर्थकर—जिसके आश्रय से भव्य जीव ससार से पार उतरते हैं वह तीर्थ कहलाता है। तीर्थ का अर्थ धर्म भी है। इसलिए तीर्थ या धर्म का प्रवर्तन करने वाले महापुरुष को तीर्थकर कहते हैं। आत्मा में तीर्थकर बनने के संस्कार मनुष्य-भव में किन्हीं केवली भगवान या श्रुत-केवली महाराज के चरणों में बैठकर दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं के चिन्तन से प्राप्त होते हैं। भरत और ऐरावत क्षेत्र में चौबीस-चौबीस तीर्थकर होते हैं। विदेह क्षेत्र में सदा बीस तीर्थकर विद्यमान रहते हैं।

तीर्थकर नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव को तीनों लोक में पूज्यता प्राप्त होती है उसे तीर्थकर नामकर्म कहते हैं अथवा जिस कर्म के उदय से जीव पाँच कल्याणों को प्राप्त करके तीर्थ या धर्म का प्रवर्तन करता है, उसे तीर्थकर नामकर्म कहते हैं।

तीर्थ—जिसके आश्रय से भव्य जीव ससार से पार उतरते हैं वह तीर्थ

कहलाता है। तीर्थ का अर्थ धर्म भी है। धर्म की प्राप्ति में सहायक श्री महावीर जी, श्री अतरिक्ष पार्श्वनाथ जी, श्री गोमटेश बाहुवली आदि अतिशय क्षेत्र और श्री सम्पेदशिखर जी, श्री पावापुरजी आदि निर्वाण क्षेत्र भी तीर्थ कहलाते हैं।

तीर्थयात्रा—अकार्य से निवृत्त होना यही तीर्थयात्रा है।

तृणस्पर्श-परीषह-जय—जो साधु चलते, बैठते या शयन करते समय सूखे तिनके, ककर, पत्थर, काटे आदि चुभने पर उत्पन्न होने वाली पीड़ा को समतापूर्वक सहन करते हैं और जीव-रक्षा में तत्पर रहते हैं उनके यह तृण-स्पर्श-परीषह-जय है।

तेजोलेश्या—जो कर्तव्य-अकर्तव्य को जानता हो, सबमें समभाव रखता हो, दया और दान में तत्पर हो, मृदुभाषी और ज्ञानी हो—ये सब तेजो-लेश्या या पीत-लेश्या के लक्षण हैं।

तैजस-शरीर—स्थूल शरीर में दीप्ति या तेज में कारणभूत जो सूक्ष्म शरीर होता है उसे तेजस-शरीर कहते हैं। यह दो प्रकार का है—नि सरणात्मक तेजस और अनि सरणात्मक तेजस।

तैजस-समुद्घात—जीवों के अनुग्रह और विनाश में समर्थ तेजस-शरीर का बाहर फेलना तेजस-समुद्घात कहलाता है। यह नि सरणात्मक तेजस-शरीर है जो दो प्रकार का है—शुभ-तेजस और अशुभ तेजस।

त्यक्त-दोष—दाता के द्वारा दिए गए आहार में से यदि साधु बहुत सा आहार नीचे गिराते हुए आहार ग्रहण करे या अधिक मात्रा में मद्य आदि अजलि में में अग्रता हो तो यह त्यक्त नाम का दोष है।

त्यक्त-शरीर—सल्लेखनापूर्वक जो शरीर छोड़ा जाता है उसे त्यक्त-शरीर कहते हैं।

त्याग—1 सचेतन और अचेतन समस्त परिग्रह की निवृत्ति को त्याग कहते हैं। 2 परस्पर प्रीति के लिए अपनी वस्तु को देना त्याग है। 3 सयमी जनो के योग्य ज्ञान आदि का दान करना त्याग कहलाता है।

त्रस—जिनके त्रस नामकर्म का उदय है वे त्रस जीव कहलाते हैं। लोक में दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पचेन्द्रिय आदि जो जीव दिखाई देते हैं वे सभी त्रस जीव हैं। दो-इन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय और चार-इन्द्रिय जीवों को विकलेन्द्रिय कहते हैं। पचेन्द्रिय जीव सकलेन्द्रिय कहलाते हैं।

त्रसघात—जिन पदार्थों के सेवन में त्रस जीवों का घात होता है ऐसे मांस, शहद आदि पदार्थ त्रसघात नामक अभक्ष्य कहलाते हैं।

त्रस-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव द्वीन्द्रिय आदि रूप त्रस पर्याय में जन्म लेता है उसे त्रस-नामकर्म कहते हैं।

त्रसनाली—जिस प्रकार वृक्ष के मध्य में सार भाग होता है उसी प्रकार लोक के मध्य-भाग में एक राजू लम्बी-चौड़ी और कुछ कम तरह राजू ऊँची त्रसनाली है। त्रस जीव इस त्रसनाली के भीतर ही रहते हैं, बाहर नहीं।

त्रीन्द्रिय-जीव—जिनके स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रिया होती हैं वे त्रीन्द्रिय जीव कहलाते हैं। जैसे—चींटी आदि।

द

दम—इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करना दम कहलाता है।

दया—दीन-दुखी जीवों के प्रति अनुग्रह या उपकार का भाव होना दया या करुणा है।

दर्शन—1 जो मोक्षमार्ग को दिखावे वह दर्शन है। मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन, सयम और उत्तम क्षमादि धर्म रूप है। अतः बाह्य में निर्ग्रन्थ और अतरंग में वीतरागी मुनि के रूप को दर्शन कहा है। 2 दर्शन का अर्थ मत है। 3 जिसके द्वारा देखा जाए उसे दर्शन कहते हैं या वस्तु के आकार-प्रकार को ग्रहण न करके जो मात्र निर्विकल्प रूप से सामान्य अवलोकन होता है उसे दर्शन कहते हैं। यही दर्शनोपयोग कहलाता है जो निराकार होता है। इसके चार भेद हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

दर्शन-क्रिया—रागवश रमणीय रूप देखने का अभिप्राय होना दर्शन-क्रिया है।

दर्शन-प्रतिमा—निर्मल सम्यग्दर्शन के साथ अष्टमूलगुण का पालन करना और सप्त व्यसन का त्याग करना यह श्रावक की पहली दर्शन-प्रतिमा है।

दर्शनमोहनीय कर्म—जिस कर्म के उदय से सत्त्वे देव शास्त्र गुरु के प्रति अश्रद्धा होती है या श्रद्धा की अस्थिरता होती है वह दर्शनमोहनीय कर्म है। यह तीन प्रकार का है—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व।

दर्शनविनय—शकादि दोषो से रहित तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना और सच्चे देव शास्त्र गुरु की पूजा भक्ति आदि मे तत्पर रहना दर्शन-विनय हे ।

दर्शन-विशुद्धि—सम्यग्दर्शन का अत्यंत निर्मल व दृढ होना दर्शन-विशुद्धि कहलाती हे । सोलह-कारण-भावना मे यह प्रथम भावना हे । इसके होने पर ही तीर्थकर प्रकृति का वध सभव होता हे ।

दर्शनाचार—नि शंकित आदि आठ अङ्ग युक्त सम्यग्दर्शन का पालन करना अर्थात् उस रूप आचरण करना दर्शनाचार कहलाता हे ।

दर्शनावरणीय कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का दर्शन गुण आवरित हो जाता हे उसे दर्शनावरणीय कर्म कहते हे । यह नौ प्रकार का हे—चक्षु-दर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय, केवलदर्शनावरणीय, निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानगृद्धि ।

दशवैकालिक—जिसमें साधुओ की आचार-विधि और गोचर-विधि अर्थात् आहार-चर्या की विधि का वर्णन हो उसे दशवेकालिक कहते हे ।

दशमशक-परीषह-जय—मच्छर, मक्खी, चींटी आदि के द्वारा पीडा पहुचाये जाने पर जो साधु उसे समता पूर्वक सहन कर लेता हे उसके यह दशमशक-परीषह-जय हे ।

दान—परोपकार की भावना से अपनी वस्तु का अर्पण करना दान कहलाता हे । दान चार प्रकार का हे—आहार-दान, ओषधि-दान, उपकरण या ज्ञान-दान और अभयदान । दान के चार भेद ओर भी

हे—करुणा-दान या दया-दत्ति, पात्र-दत्ति, समदत्ति और सकल-दत्ति ।
भावो की अपेक्षा दान तीन प्रकार का है—राजसिक, तामसिक और
सात्विक ।

दानान्तराय कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव दान देने की इच्छा करता
हुआ भी दान नहीं दे पाता वह दानान्तराय कर्म है ।

दायक दोष—जो मदिरापान आदि व्यसन करता हो, रोगी हो, अतिवाल
या अतिवृद्ध हो, अशुद्ध हो, ऐसा अयोग्य दाता यदि साधु को आहार
देता है तो यह दायक नाम का दोष है ।

दिगम्बर साधु—जो वस्त्र आभूषण आदि समस्त परिग्रह का त्याग करके
वालकवत् निर्विकार निर्ग्रथ रूप धारण करते हैं और इन्द्रिय-विजयी
होते हैं वे दिगम्बर-साधु कहलाते हैं ।

दिग्व्रत—जीवन-पर्यंत दशो दिशाओं की सीमा करके 'मे इससे बाहर
नहीं जाऊंगा'—ऐसा सकल्प करना दिग्व्रत कहलाता है ।

दिव्यध्वनि—केवलज्ञान होते ही अर्हन्त भगवान के मुख से जो सब
जीवों का कल्याण करने वाली ओंकार रूप वाणी खिरती है उसे
दिव्यध्वनि कहते हैं । यह सर्वभाषाओं से युक्त होती है और मनुष्य,
तिर्यच आदि सभी की भाषा में सुनाई देती है । तीर्थंकर के समवसरण
में सुबह, दोपहर, शाम और अर्धरात्रि के समय छह-छह घड़ी तक दिव्य
ध्वनि खिरती है । इसके अतिरिक्त गणधर, इन्द्र या चक्रवर्ती आदि
के द्वारा प्रश्न पूछे जाने पर शेष समयों में भी दिव्यध्वनि खिरती है ।

दीक्षा-कल्याणक-तीर्थकर की दीक्षा के अवसर पर होने वाला उत्सव दीक्षा या तप कल्याणक कहलाता है। तीर्थकरों को वैराग्य उत्पन्न होते ही नैकान्तिक देव आकर उनके वैराग्य की प्रशंसा करते हैं। इन्द्र उनका अभिषेक करके उन्हें वस्त्राभूषण से अलंकृत करता है। कुबेर द्वारा निर्मित पालकी में भगवान स्वयं बैठ जाते हैं। इस पालकी को पहले तो मनुष्य कंधों पर लेकर कुछ दूर पृथिवी पर चलते हैं फिर देव उसे आकाश मार्ग से ले जाते हैं। तपोवन में पहुँचकर समस्त वस्त्राभूषणों को त्यागकर तीर्थकर केशलुचन करके दिगम्बर मुद्रा धारण कर लेते हैं। इन्द्र केशों को एक मणिमय पिटारे में रखकर क्षीरसागर में विसर्जित करता है। 'नमः सिद्धेभ्यः' कहकर तीर्थकर स्वयं दीक्षा ले लेते हैं, वे स्वयं जगद्गुरु हैं। अपना नियम पूरा होने पर वे आहार-चर्या के लिए नगर में जाते हैं और विधिपूर्वक आहार लेते हैं। आहार देने वाले दाता के घर में रत्नवृष्टि आदि पच-आश्चर्य होते हैं।

दीप्त-तप-ऋद्धि-जिस ऋद्धि के प्रभाव से निरंतर उपवास करने पर भी साधु के शरीर की दीप्ति बढ़ती ही जाती है वह दीप्त-तप ऋद्धि कहलाती है।

दुर्भग-नामकर्म-जिस कर्म के उदय से जीव रूपादि गुणों से युक्त होकर भी अप्रीतिकर लगता है उसे दुर्भग-नामकर्म कहते हैं।

दुःख-पीड़ा रूप आत्मा का परिणाम ही दुःख है। दुःख चार प्रकार का है-भूख, प्यास आदि से उत्पन्न स्वाभाविक दुःख, सर्दी गर्मी आदि से उत्पन्न नैमित्तिक दुःख, रोगादि से उत्पन्न शारीरिक दुःख तथा वियोग आदि से उत्पन्न मानसिक दुःख।

दुःश्रुति—जिन शास्त्रों या पुस्तकों में हसी-मजाक, कामभोग आदि मन
यों कल्पित कर्म वाली बातों का वर्णन किया गया हो उनको पढ़ना
या सुनना अथवा दूसरों के दोषों की चर्चा करना या सुनना दुःश्रुति
नाम का अनर्घदण्ड है।

आयिका, एक श्रावक और एक श्राविका शेष रह जाते हैं। प्रथम ग्राम भाग जाने पर मुनिगज अन्तराय मानकर निराहार रह जाते हैं और अविद्यान के द्वारा पंचमकाल का अंत जानकर चारों जीव समाधिपूर्वक देह का त्याग कर देते हैं। असुर जाति के देव क्रोध में भरकर अंतिम कल्की को समाप्त कर देते हैं। इस तरह पंचमकाल पूर्ण होता है। उत्सर्पिणी के इस द्वितीय काल के प्रारंभ में मनुष्यों की आयु बीस वर्ष और ऊँचाई साढ़े तीन हाथ होती है, जो क्रम से उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। इक्कीस हजार वर्ष पमाण इस द्वितीय काल के एक हजार वर्ष शेष रहने पर कुलकरो की उत्पत्ति होने लगती है। कुलकर मनुष्यों को अग्नि जलाने, अन्न पकाने आदि की प्रक्रिया सिखाते हैं और अंतिम कुलकर के समय में विवाह आदि की पद्धति भी प्रचलित हो जाती है।

दु पमा-दु पमा—अवसर्पिणी के छठवें और उत्सर्पिणी के प्रथम काल का नाम दु पमा-दु पमा है। अवसर्पिणी के इस छठे काल में मनुष्यों की अधिकतम आयु बीस वर्ष और ऊँचाई साढ़े तीन हाथ रहती है। मनुष्यों का नैतिक पतन होने से वे पशुवत् आचरण करने लगते हैं। मनुष्य नग्न अवस्था में वनों में घूमते हुए अत्यन्त दीन-हीन, दरिद्र और पीड़ित जीवन जीते हैं। इनकी आयु, बल, ऊँचाई आदि सभी क्रमशः हीन-हीन होते जाते हैं। इस छठे काल के अंत में अर्थात् उनचास दिन कम इक्कीस हजार वर्ष बीत जाने पर अत्यन्त भयानक प्रलय आती है। अत्यंत शीतल जल, क्षार जल, विष, धुआँ, धूलि, वज्र और अग्नि—ऐसी सात प्रकार की वृष्टि सात-सात दिन तक होने से यह प्रलय का क्रम उनचास दिन तक लगातार चलता है। इस

प्रलय के समय विजयार्थ की गुफाओं में जो बहत्तर कुलों में उत्पन्न दीन-हीन स्त्री-पुरुष तथा कुछ तिर्यच जीव शेष बच जाते हैं उनकी ऊँचाई मात्र एक हाथ और आयु पंद्रह-सोलह वर्ष होती है। उत्सर्पिणी के इस प्रथम काल के प्रारम्भ में जल, दूध, अमृत, रस आदि सात प्रकार के सुखदायी मेघों की वृष्टि सात-सात दिन तक होने से उनचास दिन में सारी पृथिवी शीतल और लता गुल्म आदि से समृद्ध हो जाती है। शीतल सुगंध का अनुभव होने से मनुष्य और तिर्यच गुफाओं से बाहर निकल आते हैं और वृक्षों के मूल, फल, पत्ते आदि खाकर जीवन-यापन करने लगते हैं। आयु, बल, तेज आदि उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं। इस काल का प्रमाण इक्कीस हजार वर्ष है।

दु.षमा-सुषमा—अवसर्पिणी के चतुर्थकाल और उत्सर्पिणी के तृतीय काल का नाम दु.षमा-सुषमा है। अवसर्पिणी के इस चतुर्थकाल में मनुष्य असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प—इन षट् कर्मों के द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। मनुष्यों की अधिकतम आयु एक पूर्व कोटि और ऊँचाई पाँच सौ धनुष प्रमाण होती है। इस काल में धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करने वाले तीर्थंकर और अन्य महापुरुष जन्म लेते हैं। उत्सर्पिणी के इस तृतीय काल के प्रारम्भ में मनुष्यों की आयु एक सौ बीस वर्ष और ऊँचाई सात हाथ होती है। मनुष्य मर्यादा, विनय, लज्जा आदि श्रेष्ठ गुणों से संपन्न होते हैं। इस काल में शेष सभी बातें अवसर्पिणी के चतुर्थकाल के समान होती हैं। विशेषता यह है कि मनुष्यों की आयु, बल, तेज आदि उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं।

दु.स्वर-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से गधा, ऊट आदि के समान

देवमूढता—वरदान पाने की आशा से रागी-द्वेषी देवी-देवताओं को सच्चे देव मानकर पूजा-अर्चना करना देवमूढता है।

देवर्षि—आकाशगमन ऋद्धि से सम्पन्न साधु को देवर्षि कहते हैं। कामसेवन से रहित होने के कारण लोकान्तिक-देव भी देवर्षि कहलाते हैं।

देवावर्णवाद—‘स्वर्गलोक में रहने वाले देवी-देवता सुरापान करते हैं और मांस खाते हैं’—इस प्रकार देवगति के देवों पर मिथ्या आरोप लगाना यह देवावर्णवाद है।

देशना-लब्धि—समीचीन धर्म का उपदेश देना देशना है। देशना देनेवाले आचार्य आदि की प्राप्ति होना तथा उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण, धारण और विचारण की सामर्थ्य प्राप्त होना देशना-लब्धि कहलाती है।

देशव्रत—श्रावक के द्वारा दिग्व्रत में जो आवागमन की सीमा की जाती है उसमें भी प्रतिदिन या चार माह आदि के लिए आवागमन की सीमा कम कर लेना देशव्रत कहलाता है।

देशसत्य—नियत समय के लिए जो वचन अलग-अलग प्रान्त, नगर या ग्राम आदि में प्रचलित होता है या विभिन्न भाषाओं में बोला जाता है उसे देशसत्य कहते हैं। जैसे—भात को चोरु, कूल, भक्त आदि कहा जाता है।

द्रव्य—गुण और पर्याय के समूह को द्रव्य कहते हैं या जो उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से युक्त है उसे द्रव्य कहते हैं। द्रव्य छह है—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

द्रव्य-कर्म—जीव के शुभाशुभ भावों के निमित्त से बधने वाले सूक्ष्म पुद्गल स्कन्धों को द्रव्य-कर्म कहते हैं। ये आठ प्रकार के हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मांहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय।

द्रव्यत्व—जिसके द्वारा द्रव्य का द्रव्यपना अर्थात् एक पर्याय से दूसरी पर्याय रूप परिणमन निरंतर बना रहता है वह द्रव्यत्व-गुण है।

द्रव्य-निक्षेप—आगामी पर्याय की योग्यता वाले उस पदार्थ को जो उस समय उस पर्याय के अभिमुख हो, द्रव्य कहते हैं। द्रव्य का आगामी या पूर्व पर्याय की अपेक्षा कथन करना द्रव्य-निक्षेप कहलाता है। जैसे—आगे सेठ बनने वाले बालक को सेठ कहना या जो राजा दीक्षित होकर मुनि अवस्था में विद्यमान है, उन्हें अभी भी राजा कह देना।

द्रव्य-परिवर्तन—द्रव्य-परिवर्तन के दो भेद हैं—नो कर्म द्रव्य-परिवर्तन और कर्म द्रव्य-परिवर्तन। इसे पुद्गल-परिवर्तन भी कहते हैं। नो कर्मद्रव्य-परिवर्तन—किसी एक जीव ने औदारिक, वैक्रियिक या आहारक इन तीनों शरीरों और आहार आदि छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों को एक समय में ग्रहण किया फिर वे पुद्गल स्कन्ध द्वितीयादि समय में निर्जीण हो गए तत्पश्चात् अगृहीत परमाणुओं को अनन्त बार ग्रहण करके उस जीव ने छोड़ा, मिश्र परमाणुओं को अनन्त बार ग्रहण करके छोड़ा और बीच में गृहीत परमाणुओं को अनन्त बार ग्रहण करके छोड़ा तत्पश्चात् जब उसी जीव के सर्वप्रथम ग्रहण किए गए वे ही परमाणु उसी प्रकार से पुनः नो कर्म (शरीर) के रूप में प्राप्त होते हैं तब यह सब मिलकर एक नो कर्म द्रव्य-परिवर्तन कहलाता है। कर्म द्रव्य-परिवर्तन—सारी जीव निरंतर कर्मवध करता

रहता है चूँकि आयुकर्म सदा नहीं वधता अतः ज्ञानावरणीय आदि शेष सात कर्मों के योग्य पुद्गल स्कन्धों को वह प्रति समय ग्रहण करता है और उन्हें भोगकर छोड़ देता है। इस प्रक्रिया में वह अनन्त बार अगृहीत परमाणुओं को ग्रहण करके छोड़ देता है, मिश्र परमाणुओं को अनन्त बार ग्रहण करके छोड़ता है और अनन्त बार गृहीत परमाणुओं को ग्रहण करके छोड़ता है। तत्पश्चात् जब उस जीव के द्वारा सर्वप्रथम ग्रहण किए गए वे ही परमाणु उसी प्रकार से पुनः कर्म रूप में परिणत होते हैं तब यह सब मिलकर एक कर्म द्रव्य-परिवर्तन कहलाता है। तात्पर्य यह है कि पुद्गल परिवर्तन रूप ससार में अनेक बार भ्रमण करता हुआ जीव सभी पुद्गलों को क्रम से भोगकर छोड़ता रहता है।

द्रव्य-मूला-पंच परमेष्ठी के सम्मुख भक्ति-भाव से गन्ध, पुष्प, धूप व अक्षत आदि श्रेष्ठ अष्ट द्रव्य समर्पित करना द्रव्य-पूजा है।

द्रव्य-लिंग-देखिए लिंग।

द्रव्य-श्रुत-भावश्रुत के आश्रय से उत्पन्न होने वाले वचनात्मक श्रुत को द्रव्य-श्रुत कहा जाता है या अक्षर रूप जिनवाणी को द्रव्य-श्रुत कहते हैं।

द्रव्य-सामायिक-चेतन-अचेतन द्रव्यों में इष्ट-अनिष्ट रूप विकल्प नहीं करना द्रव्य-सामायिक है।

द्रव्य-स्तव-शुभ लक्षणों से युक्त चोवीस तीर्थकरों के शरीर की छवि का कीर्तन करना द्रव्य-स्तव कहलाता है।

द्रव्यानुयोग—जिसमें मुख्य रूप से जीव-अजीव तत्त्व का, पुण्य-पाप और बन्ध-भोक्ष का विवेचन किया गया है वह द्रव्यानुयोग है। इस अनुयोग की कथन पद्धति का प्रयोजन यह है कि जो जीव, तत्त्व के वास्तविक स्वरूप से अपरिचित होने के कारण आपा-पर के भेद विज्ञान से वंचित है वे तत्त्व को पहचाने और उसका अभ्यास करे, जिससे मोक्षमार्ग में रुचि बढ़े।

द्रव्यार्थिक-नय—जो पर्याय को गौण करके द्रव्य को मुख्य रूप से अनुभव करावे वह द्रव्यार्थिक नय है। यह वस्तु को जानने का एक दृष्टिकोण है जिसमें वस्तु के विशेष रूपों से युक्त सामान्य रूप को दृष्टिगत किया जाता है। जैसे—मनुष्य, देव, तिर्यच आदि विविध रूपों में रहने वाले एक जीव सामान्य को देखना या कहना कि यह सब जीव द्रव्य है।

द्रव्येन्द्रिय—जो निर्वृत्ति और उपकरण रूप है तथा बाहर दिखाई पड़ती है उसे द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। इसमें जो इन्द्रिय के निश्चित आकार आदि की रचना है वह निर्वृत्ति कहलाती है और जो निर्वृत्ति के लिए सहायक है वह उपकरण है। जैसे—चक्षु इन्द्रिय का जो निश्चित आकार है वह निर्वृत्ति है तथा जो सफेद और काला गोलक व पलके हैं वह उपकरण हैं।

द्वादशाङ्ग—श्रुत के बारह अङ्ग आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथाङ्ग, उपासकाध्ययनाङ्ग, अन्तकृद्दशाङ्ग, अनुत्तरोपपादिक दशाङ्ग, प्रश्नव्याकरणाङ्ग, विपाकसूत्राङ्ग और दृष्टिप्रवादाङ्ग ही द्वादशाङ्ग हैं। द्रव्यश्रुत रूप द्वादशाङ्ग की रचना गणधर करते हैं। इसे ही जिनवाणी कहते हैं।

द्वितीयोपशम-सम्यक्त्व—उपशम श्रेणी चढ़ने वाले साधु को क्षयोपशम सम्यग्दर्शन से पुनः जो उपशम-सम्यक्त्व प्राप्त होता है उस द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह सम्यग्दर्शन अनन्तानुवर्धी क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों कषायों की विसंयोजना और मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व, इन तीन कर्म प्रकृतियों के उपशम से होता है।

द्विदल—मूग, चना, उड़द आदि जिस धान्य के दो दल अर्थात् दो भाग हो जाते हैं उसे दही या छाछ के साथ मिलाने पर वह द्विदल कहलाता है। इसे अभक्ष्य माना है।

द्वीन्द्रिय-जीव—जिनके स्पर्शन व रसना—ये दो इन्द्रिया होती हैं वे द्वीन्द्रिय-जीव कहलाते हैं। जैसे—इल्ली, कृमि आदि।

द्वीप-सागर-प्रज्ञप्ति—जिसमें द्वीप और समुद्रों का प्रमाण तथा द्वीप व समुद्र के अन्तर्भूत अन्य वस्तुओं का भी वर्णन किया गया है वह द्वीप-सागर-प्रज्ञप्ति है।

द्वेष—अप्रीति या वेरभाव होना द्वेष है। क्रोध, मान, अरति, शोक, जुगुप्सा, भय ये सभी द्वेष के ही विविध रूप हैं।

ध

धर्म—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ही धर्म है। या जो जीजों का नमस्कार के दुःखों से बचाकर मोक्ष सुख में पहुँचावे, वह धर्म है। अथवा वस्तु का स्वभाव ही धर्म है। धर्म दो प्रकार का है—व्यवहार धर्म और निश्चय धर्म। दान, पूजा, शील, जप, तप, त्याग आदि व्यवहार धर्म हैं तथा परिणामों की निर्मलता, समता या वीतरागता निश्चय-धर्म है।

धर्मचक्र—तीर्थंकर के समवसरण में स्थित पीठिका पर जो सूर्य के विवर्तन ममान देदीप्यमान चक्र शोभित होते हैं वे धर्मचक्र कहलाते हैं। ये समवसरण में चारों दिशाओं में होते हैं। हजार आरों वाले ये धर्मचक्र देवा से रक्षित होते हैं।

धर्म-द्रव्य—जो जीव व पुद्गल के गमन में सहायक है उसे धर्म-द्रव्य कहते हैं। यह द्रव्य समूच लोक में व्याप्त है। यह अचेतन और अरूपी है। इसका कार्य जल की तरह है जो माछली को गमन करने में सहायक है।

सी अम्सी हाथ थी। शरीर स्वर्ण के समान आभा वाला था। पाच लाख वर्ष तक राज्य करने के उपरांत उत्कापात देखकर इन्हे वैराग्य हा गया। अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य देकर इन्होंने जिनदीक्षा ले ली। एक वर्ष तक तपस्या करके केवलज्ञान प्राप्त किया। इनके सघ में अरिष्टसेन आदि तैंतालीस गणधर, चौसठ हजार मुनि, वासठ हजार आर्यिकाए, दों लाख श्रावक और चार लाख श्राविकाए थीं। इन्होंने सम्मंद शिखर से मोक्ष प्राप्त किया।

धर्मानुप्रेक्षा—जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे गए वीतराग धर्म के बिना यह जीव अनादि काल से दुख का अनुभव करते हुए ससार में भ्रमण कर रहा है। धर्म को धारण करने वाले जीव को उत्तम सुख की प्राप्ति होना निश्चित है। इस प्रकार धर्म-भावना का बार-बार चिन्तन करना धर्मानुप्रेक्षा है।

धर्मानुराग—धर्म में स्थिर रहना ओर विपत्ति आने पर भी धर्म से विमुख नहीं होना धर्मानुराग है।

धर्मावर्णवाद—‘जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहा गया अहिंसा धर्म गुणकारी नहीं है, इसका पालन करने वाले जीव असुर होते हैं’—इस प्रकार धर्म की निन्दा करना धर्म-अवर्णवाद है।

धर्मोपदेश—जिससे जीवों को उत्तम सुख की प्राप्ति हो ऐसे वीतराग धर्म का उपदेश देना धर्मोपदेश नाम का स्वाध्याय है।

धात्री-दोष—जा वालक का पालन-पोषण करे वह धाय कहलाती है। यदि साधु धाय सबधी कार्यों का उपदेश देकर आहार प्राप्त करता है तो यह धात्री दोष है।

धारणा—1 जाने हुए पदार्थ को कालान्तर में नहीं भूलना धारणा नाम का मतिज्ञान है। 2 पच-नमस्कार मंत्र व जिनप्रतिमा के आलम्बन से मन को एकाग्र करना धारणा नाम का ध्यान है। ध्यान के लिए पाच प्रकार की धारणाएँ प्रसिद्ध हैं। (देखिए पिंडस्थ-ध्यान)

धूमदोष—यदि साधु निदा या ग्लानि करते हुए आहार ग्रहण करे तो यह धूम-दोष है।

ध्याता—शुभ ध्यान करने वाले साधक को ध्याता कहते हैं।

ध्यान—चित्त की एकाग्रता का नाम ध्यान है। यह चार प्रकार का है—आर्तध्यान, रोद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। आर्तध्यान और रोद्रध्यान ससार को बढ़ाने वाले होने से अशुभ है। धर्मध्यान व शुक्लध्यान मोक्ष-प्राप्ति में सहायक होने से शुभध्यान है।

ध्येय—ध्यान के आलम्बन को ध्येय कहते हैं। ध्येय चेतन-अचेतन दोनों प्रकार के हो सकते हैं, जो जीव के शुभ-अशुभ परिणाम में निमित्त बनते हैं।

ध्रुव-अवग्रह—जो यथार्थ ग्रहण निरंतर होता है वह ध्रुव अवग्रह है। आशय यह है कि जैसा प्रथम समय में शब्द आदि का ज्ञान हुआ था, आगे भी वैसा ही होता रहता है, कम या ज्यादा नहीं होता यह ध्रुव-अवग्रह है।

ध्रौव्य—द्रव्य की स्वभाव रूप स्थिरता का नाम ध्रौव्य है।

न

नन्दा-वाचना—विविध मत-मतान्तरो का निराकरण करते हुए सत्य-धर्म को स्थापित करने वाली व्याख्या नन्दा-वाचना कहलाती है।

नन्दीश्वर-द्वीप—यह मध्यलोक का आठवा द्वीप है। इस द्वीप में चार दिशाओं में चार अजनगिरि-पर्वत, मोलह वापिया, सान्तर दक्षिण में और चोसठ रत्तिकर-पर्वत हैं। यहाँ कुल सावन जिनान्त है जिनमें रत्न और स्वर्णमय भव्य प्रतिमाएँ हैं। प्रतिवर्ष देवा द्वारा फाल्गुन आषाढ और कार्तिक मास के आष्टान्तिक पर्व में राग अभिरक्षणा नन्दीश्वर आदि महापूजा होती है।

थाविकाए थीं। इन्होंने सम्मैद-शिखर में मान प्राप्त किया।

नय-वस्तु के अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म को सापेक्ष रूप से कथन करने की पद्धति को नय कहते हैं। अथवा ज्ञाता और वक्ता के अभिप्राय को नय कहते हैं। वास्तव में, अनन्त धर्मात्मक होने के कारण वस्तु अत्यंत जटिल है। उसे जाना जा सकता है परंतु आसानी से कहा नहीं जा सकता। उसे कहने के लिए वस्तु का विश्लेषण करके एक-एक धर्म को क्रमशः निरूपित करने के सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है ऐसी स्थिति में वक्ता वस्तु के किसी एक धर्म को मुख्य करके और शेष धर्मों को गौण करके सापेक्ष रूप से कथन करता है और इस तरह वस्तु को पूर्णतः जानना आसान हो जाता है। यही नय का कार्य है। नय के दो भेद हैं—द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय अथवा निश्चय नय और व्यवहार नय। नेगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवभूत—ये भी सात नय हैं।

नरक—जो जीवों को शीत, उष्ण आदि वेदनाओं से निरंतर आकुलित करते रहते हैं वह नरक कहलाते हैं। अथवा पापी जीवों को अत्यंत दुःख प्राप्त कराने वाले नरक हैं। अथवा जिस स्थान में जीव रमते नहीं हैं अर्थात् परस्पर प्रेम-भाव को प्राप्त नहीं होते वह नरक कहलाते हैं।

कहलाती है ।

नाग्न्य-परीपह-जय-हिंसा आदि दोषों से रहित निष्परिग्रह रूप जो बालकवत् सहज निर्विकार नग्नता है वह मोक्ष का अनिवार्य साधन है । इस नग्न दिगम्बर रूप को धारण करने वाले जो साधु कामजिह्वा को जीत लेते हैं और अष्टाष्ट ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं वह उनका नाग्न्य-परीपह-जय है ।

नाभ्ययोनिर्गम—आहार के लिए जाते हुए साधु को यदि नाभि से नीचा मस्तक करके निकलना पड़े तो यह नाभ्ययोनिर्गम नाम का भ्रष्टा कहलाता है ।

नाम-सामायिक—प्रिय-अप्रिय नाम आदि सुनकर हर्ष या विषाद नहीं करना यह नाम-सामायिक है।

नाम-स्तव—अर्हन्त भगवान का एक हजार आठ नामों से स्तवन करना नाम-स्तव कहलाता है।

नारद—ये कलह और युद्ध के प्रेमी होते हैं। एक स्थान की बात दूसरे स्थान तक पहुँचाने में सिद्धहस्त होते हैं। जटामुकुट, कमण्डलु, यज्ञोपवीत, गेरुआ वस्त्र और वीणा आदि धारण करते हैं। बाल-ब्रह्मचारी होते हैं। धर्म कार्य में तत्पर रहते हुए भी हिंसा व कलह आदि में रुचि रखने के कारण नरकगामी होते हैं। जिनेन्द्र-भक्ति के प्रभाव से शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

नाराच-सहनन—जिस कर्म के उदय से शरीर में हड्डियों की संधियाँ परस्पर नाराच अर्थात् कील से जुड़ी होती हैं वह नाराच-सहनन नामकर्म है।

नारायण—अपने पूर्वभव में जो जीव रत्नत्रय की आराधना करके विशिष्ट पुण्य का संचय करता है लेकिन लोभवश आगामी भोगों की आकांक्षा रूप निदान करके स्वर्ग में उत्पन्न होता है और वहाँ से व्युत्त होकर मनुष्यों में तीन खण्ड राज्य के अधिपति के रूप में उत्पन्न होता है। यह तीन खण्ड राज्य का स्वामी ही नारायण कहलाता है। नारायण के चक्र, गदा, खड्ग, शक्ति, धनुष, शंख और महामणि—ये सात रत्न और अपार वैभव होता है। एक उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी काल में नौ नारायण होते हैं। नारायण बलभद्र के छोटे भाई होते हैं। हिंसा का समर्थन करने से नरक जाते हैं लेकिन भव्य होने के कारण शीघ्र

ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

निकाचित—जीव के द्वारा बाधे गए जिस कर्म का अपकर्षण, उत्कर्षण और सक्रमण होना संभव नहीं है वह निकाचित-कर्म कहलाता है। यह कर्म आवाधाकाल पूरा होने पर उदय में आकर अवश्य ही फल देता है। विशेषता यह है कि जिनविव के दर्शन से कर्मों का निकाचितपना नष्ट हो सकता है।

निक्षिप्त-दोष—यदि साधु सचित्त जल, पृथिवी, हरे पत्ते आदि के ऊपर रखी आहार सामग्री ग्रहण कर ले तो यह निक्षिप्त दोष है।

निक्षेप—नाम स्थापना आदि के द्वारा वस्तु में भेद करने के उपाय को निक्षेप कहते हैं। या जो अनिर्णीत वस्तु का निर्णय कराये उसे निक्षेप कहते हैं। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—ये चार निक्षेप हैं। लोक-व्यवहार में एक ही वस्तु के लिए नाम आदि चारों निक्षेप देखने में आते हैं, जैसे—किसी व्यक्ति का नाम सेवक है। किसी सेवक का चित्र भी सेवक कहलाता है। जो सेवाकार्य से निवृत्त है या आगे सेवा कार्य करेगा, वह भी सेवक माना जाता है। जो वर्तमान में सेवाकार्य कर रहा है वह भी सेवक है।

निगोद—जो अनन्तो जीवों को एक निवास दे उसे निगोद कहते हैं। आशय यह है कि एक ही साधारण शरीर में जहां अनन्तो जीव निवास करते हैं वह निगोद है। निगोद में स्थित जीव दो प्रकार के हैं—नित्यनिगोद और चतुर्गति निगोद।

नित्य-निगोद—जिन्होंने कभी भी त्रस-पर्याय को प्राप्त नहीं किया और जो सदाकाल से निगोद में ही हैं वे जीव नित्य-निगोद कहलाते हैं।

नित्य पूजा—प्रतिदिन जिनालय में गंध पुष्पादि सामग्री के द्वारा भक्ति भाव से जिनेन्द्र भगवान की पूजा करना नित्य पूजा या सदाचर्न कहलाता है।

निदान—‘मुझे भविष्य में इस वस्तु की प्राप्ति हो’—ऐसा सकल्प करना निदान कहलाता है। यह तीन प्रकार का है—प्रशस्त, अप्रशस्त और भोगकृत। सयम की साधना के लिए परलोक में उत्तम शरीर, दृढ परिणाम और योग्य सामग्री प्राप्त हो ऐसी भावना रखना प्रशस्त निदान है। अभिमानवश उत्तम कुल, वश या उत्तम पदवी की कामना करना अप्रशस्त निदान है अथवा क्रोधित होकर मरण के समय शत्रु के वध की इच्छा करना अप्रशस्त निदान है। परलोक में भोग-विलास की उत्तम सामग्री मिले, ऐसी आकाक्षा करना भोगकृत-निदान है।

निदान-आर्तध्यान—विशेष प्रीतिवश या तीव्र कामादि वासना से प्रेरित होकर त्याग-तपस्या के फलस्वरूप परलोक में इन्द्रिय-सुख मिले, ऐसी आकाक्षा निरन्तर करना निदान नाम का आर्तध्यान है। इसमें परलोक सबधी इन्द्रिय-सुखों की प्राप्ति के लिए सतत चिन्ता बनी रहती है। यह आर्तध्यान देशव्रती श्रावक की अवस्था तक ही संभव है। मुनिजनो को यह आर्तध्यान नहीं होता।

निदान-शल्य—देखे, सुने और अनुभव में आए हुए भोगों में निरन्तर चित्त को लगाए रखना निदान-शल्य है।

निद्रा—मद, खेद व परिश्रम-जन्य थकावट को दूर करने के लिए शयन या विश्राम करना निद्रा है। निद्रा कर्म के उदय में जीव अल्प-काल सोता है और उठाए जाने पर जल्दी उठ जाता है।

निद्रा-निद्रा—निद्रा की पुनरावृत्ति होना निद्रा-निद्रा है। निद्रा-निद्रा कम के उदय में जीव वृक्ष की डाल पर, विषम भूमि पर या जहाँ कहीं भी अत्यंत गहरी नींद में सोता है।

निधत्ति—जीव के द्वारा बाधे गए जिस कर्म का उत्कर्षण या अपकर्षण तो संभव है, पर सक्रमण होना संभव नहीं है उसे निधत्ति कर्म कहते हैं। इतना अवश्य है कि जिनविषय के दर्शन से कर्मों का निधत्तिपना नष्ट हो जाता है।

निन्दा—स्वयं अपने दोषों को प्रगट करना या उनका पश्चात्ताप करना निन्दा कहलाती है।

निबद्ध-मंगल—ग्रन्थ के प्रारम्भ में ग्रन्थकार के द्वारा जो स्तुतिपरक श्लोक आदि के रूप में भगवान् को नमस्कार किया जाता है वह निबद्ध-मंगल कहलाता है।

निमित्त-कारण—जो कार्य के होने में सहयोगी हो या जिसके बिना कार्य न हो उसे निमित्त-कारण कहते हैं। कुछ निमित्त धर्मद्रव्य आदि के समान उदासीन होते हैं और कुछ गुरु आदि के समान प्रेरक भी होते हैं। उचित निमित्त के होने पर तदनुसार ही कार्य होता है।

निमित्त-ज्ञान—तीनों काल सबधी शुभाशुभ का ज्ञान करने के लिये अतरिक्ष, भोम, अङ्ग, स्वर, व्यजन, लक्षण, छिन्न और स्वप्न ये आठ निमित्त होते हैं। इन आठ निमित्तों द्वारा शुभाशुभ का ज्ञान होना निमित्त-ज्ञान कहलाता है।

निमित्त-दोष—यदि साधु निमित्त-ज्ञान के द्वारा शुभाशुभ फल बताकर आहार प्राप्त करे तो यह निमित्त नामक दोष है।

नियतिवाद—जो जब, जिसके द्वारा, जिस प्रकार से, जिसका नियम से होना होता है वह तब ही, तिसके द्वारा, तिस प्रकार से होता है—ऐसा मानना नियतिवाद नाम का एकान्त मिथ्यात्व है।

नियम—भोग-उपभोग की सामग्री का थोड़े समय के लिए त्याग करना नियम कहलाता है।

निर्ग्रथ—1 धन-धान्यादि परिग्रह को ग्रन्थ कहते हैं अतः जो समस्त बाह्य और अंतरंग परिग्रह से रहित है वे निर्ग्रथ साधु कहलाते हैं।
2 अन्तर्मुहूर्त के उपरान्त जिन्हें केवलज्ञान प्रगट होने वाला है वे निर्ग्रथ कहलाते हैं।

निर्जरा—जिस प्रकार आम आदि फल पककर वृक्ष से पृथक् हो जाते हैं, उसी प्रकार आत्मा को भला-बुरा फल देकर कर्मों का झड़ जाना निर्जरा है। यह दो प्रकार की है—सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा।

निर्जरानुप्रेक्षा—जीव के पूर्वबद्ध कर्म अपना फल देकर झड़ जाते हैं—ऐसी सविपाक निर्जरा सभी जीवों के निरंतर होती रहती है। विशेष तप के द्वारा की गयी अविपाक निर्जरा केवल सम्यग्दृष्टि व्रती श्रावक और मुनियों के होती है जो जीव को ससार के दुखों से मुक्त करती है। इस प्रकार निर्जरा के गुणदोषों का चिन्तन करना निर्जरानुप्रेक्षा कहलाती है।

निर्देश—विवक्षित वस्तु के स्वरूप का कथन करना निर्देश कहलाता है।

निर्माण नामकर्म—जिस कर्म के उदय से शरीर के अङ्ग और उपाङ्गों

की रचना होती है उसे निर्माण-नामकर्म कहते हैं। चक्षु आदि अवयवों के स्थान और प्रमाण आदि का निर्धारण भी निर्माण नामकर्म के उदय से होता है।

निर्माल्य—मन्त्रोच्चार या अभिप्रायपूर्वक सत्त्वं देव शास्त्र गुरु के सम्मुख चढ़ाई गई वस्तु निर्माल्य कहलाती है। निर्माल्य दो प्रकार का होता है—देव-द्रव्य और देव-धन। जो नैवेद्य, जल, चदन आदि द्रव्य भगवान के सम्मुख अर्पित की जाती है वह देव-द्रव्य रूप निर्माल्य है। यदि चढ़ाने वाला इस सामग्री को स्वयं प्रसाद रूप में ग्रहण करे या अन्य किसी को प्रसाद की तरह दे तो उसके अन्तराय कर्म का बंध होता है। मंदिर के जीर्णोद्धार, जिनविव-प्रतिष्ठा, वेदी-प्रतिष्ठा, जिन-पूजन और रथोत्सव आदि धर्म कार्य के लिए जो दान-राशि प्रदान की जाती है वह देवधन रूप निर्माल्य है। जो लोभवश निर्माल्य ग्रहण करता है वह नरकगामी होता है।

निर्यापक—सल्लेखना धारण कराने वाले आचार्य को निर्यापक या निर्यापकाचार्य कहते हैं। योग्य-अयोग्य आहार को जानने वाले, प्रायश्चित्त-ग्रन्थ के रहस्य को जानने वाले, आगम के ज्ञाता और स्व-पर के उपकार में तत्पर आचार्य ही निर्यापक होने के योग्य हैं। एक क्षपक की सल्लेखना के लिए अधिकतम अड़तालीस निर्यापक होते हैं और कम से कम दो निर्यापक भी सल्लेखना के कार्य को सभाल सकते हैं। जिनागम में एक निर्यापक का किसी भी काल में उल्लेख नहीं है। यदि एक ही निर्यापक होगा तो सल्लेखना का महान कार्य निर्विघ्न संपन्न नहीं हो सकता।

निर्वाण—आत्मा की परम विशुद्ध अवस्था का नाम निर्वाण है अथवा-

निर्वाण का अर्थ विनाश है, अतः सर्व कर्मों का विनाश होना ही निर्वाण है। या जहा पीडा, बाधा, जन्म, मरण आदि नहीं है वही निर्वाण है।

निर्वाण-कल्याणक—तीर्थकरो के निर्वाण के अवसर पर होने वाला उत्सव निर्वाण-कल्याणक कहलाता है। आयु पूर्ण होने के अंतिम समय में भगवान योग-निरोध करके ध्यान के द्वारा शेष सर्व कर्मों का क्षय कर देते हैं और आत्मा की परम विशुद्ध अवस्था में स्थित हो जाते हैं। देवगण भगवान के निर्वाण-कल्याणक की पूजा करते हैं। भगवान का शरीर कपूर की भाँति उड जाता है। इन्द्र उस स्थान पर भगवान् के लक्षणों से युक्त सिद्धशिला का निर्माण करता है।

निर्विकृति—जिह्वा एव मन में विकार उत्पन्न करने वाले गोरस आदि को विकृति कहा जाता है अथवा जिस आहार को परस्पर मिलाने से विशेष स्वाद उत्पन्न होता है उसे विकृति कहते हैं। विकृति से रहित छाछ आदि को निर्विकृति कहते हैं।

निर्विचिकित्सा—जो रत्नत्रय से पवित्र है ऐसे मुनिजनों के मलिन शरीर को देखकर घृणा नहीं करना और उनके गुणों के प्रति प्रीति रखना यह सम्यग्दर्शन का निर्विचिकित्सा अङ्ग है।

निर्वृत्ति-अपर्याप्त—पर्याप्ति नामकर्म के उदय से युक्त जीव के जब तक शरीर पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती उतने काल तक उसे निर्वृत्ति-अपर्याप्त कहते हैं।

निर्वेजनी-कथा—ससार, शरीर और भोगों से वैराग्य उत्पन्न कराने वाली कथा को निर्वेजनी कथा कहते हैं।

निश्चय-काल—वर्तना जिसका लक्षण हे वह निश्चय-काल हे । निश्चय काल ही वस्तु के परिणमन में निमित्त कारण है । इसी के आधार पर समय, निमेष, दिन, रात, मास, वर्ष आदि रूप व्यवहार-काल जाना जाता है ।

निश्चय-चारित्र—रागादि विकल्पो से रहित होकर आत्मस्वरूप में लीन होना निश्चय-चारित्र हे । शुक्लध्यान, वीतराग-चारित्र, शुद्धोपयोग, उपेक्षासयम, सर्वपरित्याग, उत्सर्ग या निश्चय-चारित्र ये एकार्थवाची हैं ।

निश्चय-नय—जो अभेद रूप से वस्तु का निश्चय करता है वह निश्चय नय है । निश्चय नय वस्तु को जानने का एक ऐसा दृष्टिकोण है जिसमें कर्ता, कर्म आदि भाव एक-दूसरे से भिन्न नहीं होते । यह दो प्रकार का है—शुद्ध निश्चय नय और अशुद्ध निश्चय नय । निरुपाधि गुण और गुणी में अभेद दर्शाने वाला शुद्ध निश्चय नय हे । जैसे केवलज्ञानादि ही जीव है अर्थात् केवलज्ञानादि जीव का स्वभावभूत लक्षण है । इस नय की दृष्टि से जीव निज शुद्ध भावों का कर्ता और वीतराग परम आनन्द का भोक्ता है । सोपाधिक गुण और गुणी में अभेद दर्शाने वाला अशुद्ध निश्चय-नय है । जैसे—मतिज्ञान आदि ही जीव हे । इस नय की दृष्टि से जीव, राग-द्वेष-मोह रूप भावकर्मों का कर्ता है और उस भावकर्म के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले हर्ष विषाद आदि रूप सुख-दुख का भोक्ता हे ।

निश्चय-मोक्षमार्ग—जो निज शुद्ध आत्म-तत्त्व के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और आचरण रूप हे वह निश्चय-मोक्षमार्ग हे ।

निश्चय-सम्यग्दर्शन—रागादि से भिन्न निज शुद्धात्मा ही उपादेय है—ऐसी रुचि या श्रद्धान होना निश्चय-सम्यग्दर्शन है। यह निश्चय-चारित्र का अविनाभावी है अर्थात् निश्चय-चारित्र के बिना निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं होता।

निश्चय-सम्यग्ज्ञान—समस्त रागादि विकल्पो से रहित शुद्धात्मस्वरूप का वेदन या अनुभव करना निश्चय-सम्यग्ज्ञान है या स्वसवेदन ज्ञान को निश्चय-सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

निषद्या-परीषह-जय—श्मशान, उद्यान, गुफा आदि में रहते हुए जो साधु वीरासन आदि आसन विशेष में स्थित होकर आत्म ध्यान में लीन रहते हैं और उपसर्ग आदि आने पर भी आसन से विचलित नहीं होते, उनके यह निषद्या-परीषह-जय है।

निषिद्धिका—बहुत प्रकार के प्रायश्चित्त आदि का वर्णन करने वाले शास्त्र को निषिद्धिका कहते हैं।

निषीधिका—अर्हन्त आदि के निर्वाण क्षेत्र तथा मुनिराज आदि के समाधिस्थल को निषीधिका कहते हैं।

निष्ठीवन—आहार करते समय साधु के मुख में कफ आदि आ जाने पर निष्ठीवन नाम का अतराय होता है।

निसर्ग-क्रिया—पापादान आदि रूप प्रवृत्ति के लिए सम्पत्ति देना निसर्ग-क्रिया है।

निसर्गज-सम्यग्दर्शन—जो परोपदेश के बिना सहज उत्पन्न होता है उसे निसर्गज-सम्यग्दर्शन कहते हैं।

जेनदजंन पारिभाषिक त्ते

निसही-प्रवेश की सूचना के लिए प्रयुक्त शब्द। साधु को जब जिनमंदिर मठ या गुफा आदि में प्रवेश करना हो तो वहाँ रहने वाले भूत, यक्ष, नाग आदि से 'निसही' इस शब्द को बोलकर प्रवेश करना चाहिए। इसी तरह वहाँ से निकलना हो तो 'असही' इस शब्द को बोलकर निकलना चाहिए।

निःकाक्षित-ईन्द्रिय सुखों की आकांक्षा छोड़कर सम्यग्दृष्टि जीव मोक्ष की प्राप्ति के लिए तप आदि अनुष्ठान करता है यह उसका निःकाक्षित गुण है।

निःशक्ति-अर्हन्त भगवान् वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी हैं इसलिए उनके द्वारा कहे गए मोक्ष और मोक्षमार्ग के स्वरूप में सम्यग्दृष्टि जीव सशय नहीं करता यह उसका निःशक्ति गुण है।

निःसरणात्मक-तैजस-जीवों के अनुग्रह या विनाश करने में समर्थ जो तैजस-शरीर साधु के स्थूल शरीर से बाहर निकलता है उसे निःसरणात्मक तैजस शरीर कहते हैं। यह दो प्रकार का है प्रशस्त-निःसरणात्मक-तैजस और अप्रशस्त-निःसरणात्मक-तैजस।

निःसृत-वस्तु के पूर्णतः प्रगट होने पर ही उसका ज्ञान होना निःसृत-अवग्रह है। जैसे जलमग्न हाथी के पूर्णतः बाहर आने पर ही उसका ज्ञान हो पाना।

नीच-गोत्र-जिस कर्म के उदय से जीव का जन्म लोकनिन्दित अर्थात् हिंसक, दुराचारी, दुःख से पीडित, दरिद्र कुल में हो उसे नीच-गोत्र कहते हैं।

नील-लेश्या-विषयो मे आसक्त, मतिहीन, मानी, विवेकशून्य, मन्द, आलसी, कायर, प्रचुर माया प्रपच मे सलग्न, निद्रालु, लोभ से अध, धन-संपत्ति आदि सुख का इच्छुक और आहारादि सज्ञाओं मे आसक्त जीव नील लेश्या वाला है। ये सब नील लेश्या के लक्षण है।

नैमिनाथ-बाइसवे तीर्थकर। ये यादववंश के राजा समुद्रविजय के पुत्र थे। रानी शिवादेवी इनकी मा थीं। इनकी आयु एक हजार वर्ष थी। शरीर की ऊंचाई दस धनुष और आभा नीलमणि के समान थी। अपने विवाह की तैयारी मे म्लेच्छ राजाओं के भोजन के लिए हरिणों का समूह बधन मे बधा देखकर वे विवाह किए बिना ही विरक्त हो गए और जिनदीक्षा ले ली। छप्पन दिन तक तपस्या करके केवलज्ञान प्राप्त किया। इनके समवसरण मे वरदत्त आदि ग्यारह गणधर, अठारह हजार मुनि, चालीस हजार आर्यिकाएँ, एक लाख श्रावक व तीन लाख श्राविकाएँ थीं। इन्होंने गिरिनार (उर्जयन्त) पर्वत से मोक्ष प्राप्त किया। इनका दूसरा नाम अरिष्टनेमी भी था। श्रीकृष्ण इनके चचेरे भाई थे।

नैगमनय-निगम का अर्थ सकल्प है। अतः अनिष्पन्न अर्थ मे सकल्प मात्र को ग्रहण करके कथन करने वाला नैगमनय है। आशय यह है कि जो अभी उत्पन्न नहीं हुआ है भविष्य मे उत्पन्न होने वाला है ऐसे पदार्थ मे जो सकल्प मात्र को ग्रहण करता है उसे नैगमनय कहते हैं। जैसे ईंधन, जल आदि लाते हुए किसी व्यक्ति से कोई पूछता है कि आप क्या कर रहे हैं, तो वह कहता है कि भात पका रहा हूँ। उस समय भात पका नहीं है केवल भात पकाने का सकल्प किया गया है। इसलिए उसका यह कहना कि 'भात पका रहा हूँ' लोक-व्यवहार मे सत्य माना जाता है। इसी प्रकार जितना भी

लोक-व्यवहार हे वह सब नैगमनय का विषय हे ।

नेष्टिक-श्रावक-जो श्रद्धापूर्वक व्रत, सामायिक आदि ग्यारह प्रतिमाओं में से एक-दो या सभी प्रतिमाएँ ग्रहण करता हे वह नेष्टिक-श्रावक कहलाता है ।

नो-कर्म-कर्म के उदय से प्राप्त होने वाला औदारिक आदि शरीर जो जीव के सुख-दुःख में निमित्त बनता हे वह नो-कर्म कहलाता हे ।

नो-कर्माहार-शरीर की स्थिति में निमित्तभूत और पुण्य रूप जो असाधारण अनन्त परमाणु प्रतिक्षण अर्हन्त भगवान के शरीर से सबध को प्राप्त होते हे उसे नो-कर्माहार कहते हैं । अर्हन्त भगवान के एकमात्र नो-कर्माहार ही होता है ।

नो-कषाय-ईषत् या अल्प कषाय का नो-कषाय कहते है । जिस कर्म के उदय से जीव हास्य आदि का वेदन करता है वह नो-कषाय-वेदनीय कर्म हे । इसके नौ भेद हे-हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसकवेद ।

न्यग्रोधपरिमडल-सस्थान-बड के पेड को न्यग्रोध कहते है । जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर बड के पेड के समान नाभि के ऊपर मोटा ओर नीचे पतला होता है उसे न्यग्रोधपरिमडल-सस्थान कहते हे ।

प

पञ्च-परमेष्ठी—जो परम-पद में स्थित है वे परमेष्ठी कहलाते हैं।
अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु—ये पञ्च परमेष्ठी हैं।

पञ्चम-काल—देखिए दुषमा।

पञ्चमेरु—देखिए सुमेरु।

पञ्चाङ्ग-नमस्कार—जो शरीर के पांच अङ्गों अर्थात् दोनों हाथ, दोनों घुटने और सिर को भूमि से लगाकर नमस्कार किया जाता है उसे पञ्चाङ्ग-नमस्कार कहते हैं।

पञ्चाचार—अपनी शक्ति के अनुसार सम्यग्दर्शन आदि की निर्मलता के लिए जो प्रयत्न किया जाता है उसे आचार कहते हैं। दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार—यही पञ्चाचार हैं।

पञ्चेन्द्रिय—जिनके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांचो इन्द्रिया होती हैं वे पञ्चेन्द्रिय जीव कहलाते हैं। देव, नारकी, मनुष्य तथा जलचर, थलचर, नभचर आदि कुछ तिर्यच जीव पञ्चेन्द्रिय होते हैं।

पण्डित-पण्डित-भरण—केवली भगवान के निर्वाण को पण्डित-पण्डित-भरण कहते हैं।

पण्डित-भरण—महाव्रती साधु का सल्लेखनापूर्वक होने वाला भरण, पण्डित-भरण कहलाता है। यह तीन प्रकार का है—भक्त-प्रत्याख्यान, इंगिनीभरण और प्रायोपगमन।

पतन—आहार लेते समय यदि साधु मूर्छा आदि आने से भूमि पर गिर पड़ते हैं तो यह पतन नाम का अतराय है।

पदस्थ-ध्यान—एक अक्षर से प्रारम्भ करके अनेक प्रकार के पचपरमेष्ठी वाचक पवित्र मन्त्रपदों का आलम्बन लेकर जो ध्यान किया जाता है उसे पदस्थ-ध्यान कहते हैं जैसे—एकाक्षरी मन्त्र—ॐ, दो अक्षर वाला—अर्हं या सिद्ध, चार अक्षर वाला—अरहत, पचाक्षरी मन्त्र—णमो सिद्धाण, नम सिद्धेभ्य आदि।

पदानुसारी ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु अपने गुरु के उपदेश से एक बीज पद को सुनकर समस्त ग्रन्थ को जानने में समर्थ होते हैं उसे पदानुसारी ऋद्धि कहते हैं।

पदार्थ—जो जाना जाये या निश्चय किया जाए उसे अर्थ या पदार्थ कहते हैं। मोक्षमार्ग में जानने योग्य जीव, अजीव, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप—ये नौ पदार्थ हैं।

पद्मप्रभ—छठवे तीर्थंकर। इनका जन्म इक्ष्वाकुवंश के राजा धरण और रानी सुसीमा के यहाँ हुआ। इनकी आयु तीस लाख वर्ष पूर्व थी और शरीर दो सो पचास धनुष ऊँचा था। सोलह पूर्वांग कम एक लाख पूर्व आयु शेष रहने पर इन्होंने ससार से विरक्त होकर जिनदीक्षा ले ली। छह मास की कठोर तपस्या के फलस्वरूप इन्हें केवलज्ञान हुआ। इनके सध में एक सौ दस गणधर, तीन लाख तीस हजार मुनि, चार लाख बीस हजार आर्यिकाएँ, तीन लाख श्रावक और पाँच लाख श्राविकाएँ थीं। इन्होंने सम्मैदशिखर से निर्वाण प्राप्त किया।

पद्मलेश्या—जो त्यागी हो, भद्र हो, सच्चा हो, उत्तम कार्य करने वाला

हो, क्षमावान् हो, साधुओं की पूजा-अर्चना और सेवा में तत्पर हो वह जीव पद्मलेश्या वाला है। ये सब पद्मलेश्या के लक्षण हैं।

परघात-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से शरीर में दूसरे जीवों का घात करने में निमित्त-भूत पुद्गल का संचय होता है उसे परघात-नामकर्म कहते हैं। जैसे सर्प की दाढ़ों में विष, बिच्छू का डक, सिंह, चीता आदि में तीक्ष्ण नख व दात; धतूरा आदि विषैले वृक्ष।

परमर्षि—विश्वदृष्टा अर्हन्त भगवान् परमर्षि कहलाते हैं।

परमाणु—पुद्गल द्रव्य के अविभागी अंश को परमाणु कहते हैं। परमाणु एक प्रदेशी होता है। सभी परमाणुओं में स्पर्श, रस, गंध व वर्ण आदि गुण पाए जाते हैं। परमाणु की उत्पत्ति स्कन्ध से होती है।

परमात्मा—सर्व दोषों से रहित शुद्ध-आत्मा को परमात्मा कहते हैं। परमात्मा के दो भेद हैं—सकल-परमात्मा अर्थात् अर्हन्त भगवान् और निकल-परमात्मा अर्थात् सिद्ध भगवान्।

परमार्थ—1 परम का अर्थ यहाँ मोक्ष है अतः मोक्ष ही जिसका प्रयोजन है वह परमार्थ है। 2 जिसमें आत्म-हित और लोक-हित दोनों निहित हैं वह परमार्थ कहलाता है।

परमावगाढ-सम्यग्दर्शन—केवलज्ञान के द्वारा प्रकाशित जीवादि पदार्थ-विषयक ज्ञान से जिनकी आत्मा विशुद्ध है वे परमावगाढ रुचि सम्यग्दृष्टि हैं। इनका सम्यग्दर्शन ही परमावगाढ-दर्शन है।

परलोक-भय—‘परभव में न मालूम मेरा क्या होगा’—ऐसा भय होना परलोक-भय है।

परसमय—परसमय का अर्थ मिथ्यादृष्टि या वहिरात्मा है। जो जीव कर्मोदय जनित मनुष्य आदि रूप पर्यायो में लीन हैं उन्हें परसमय कहा गया है। अथवा जो जीव मिथ्यात्व कर्म के उदय से पर पदार्थों को निज रूप मानता है वह परसमय है।

परावर्त-दोष—अपने साधारण चावल आदि दूसरे को देकर बदले में दूसरे से बढ़िया चावल आदि लेकर साधु को आहार देना यह परावर्त नामक दोष है।

परिकर्म—जिसमें गणित विषयक करण-सूत्र उपलब्ध होते हैं वह परिकर्म कहलाता है। परिकर्म के पांच भेद हैं—चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, द्वीप-सागर-प्रज्ञप्ति और व्याख्या-प्रज्ञप्ति।

परिग्रह—‘यह मेरा है, मैं इसका स्वामी हूँ’, इस प्रकार का ममत्व भाव ही परिग्रह है। यह दो प्रकार का है—अतरंग परिग्रह तथा बाह्य परिग्रह। रागादि रूप अतरंग परिग्रह चौदह प्रकार का है—मिथ्यात्व, चार कषाएँ और नौ नो-कषाय। बाह्य वस्तुओं के ग्रहण व सग्रह रूप बाह्य परिग्रह दस प्रकार का है—क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, यान, कुप्य (वस्त्र), भांड (वर्तन) और शय्यासन।

परिग्रह-त्याग-प्रतिमा—आरभ-त्याग नामक आठवीं प्रतिमा धारण करने के उपरांत दैनिक उपयोग में आने वाली वस्तुओं और पूजा के उपकरणों को छोड़कर शेष समस्त परिग्रह का जीवन पर्यन्त के लिए त्याग कर देना, यह श्रावक की नौवीं परिग्रह-त्याग-प्रतिमा कहलाती है।

परिग्रह-परिमाण-व्रत—धन-धान्य आदि परिग्रह का परिमाण करके

आदि पर्याप्तियों की पूर्णता होती है उसे पर्याप्त-नामकर्म कहते हैं।

पर्याय-द्रव्य की अवस्था विशेष को पर्याय कहते हैं। पर्याय एक के बाद दूसरी इस प्रकार क्रमश होती है। अतः पर्याय को क्रमभावी या क्रमवर्ती कहा जाता है। पर्याय दो प्रकार की होती है—अर्थ-पर्याय और व्यजन-पर्याय। ये स्वभाव और विभाव रूप होती है।

पर्यायार्थिक-नय—जो द्रव्य को गौण करके मुख्य रूप से पर्याय को अनुभव करावे वह पर्यायार्थिक-नय है। जैसे—‘कुण्डल लाओ’—यह कहने पर व्यक्ति कडा आदि नहीं लाता क्योंकि कुण्डल रूप पर्याय ही उसे इष्ट है। सारा लोक-व्यवहार इसी नय की दृष्टि से चलता है।

पर्व-धर्म-सचय की कारणभूत अष्टमी आदि विशेष तिथियों को पर्व कहते हैं।

पश्चात्स्तुति—यदि साधु आहार ग्रहण करने के बाद दाता की प्रशंसा करता है तो यह पश्चात्स्तुति नामक दोष है।

पाक्षिक-श्रावक—मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भाव की वृद्धि करना तथा हिंसा का त्याग करना यही जैनो का पक्ष है। इसलिए जो जिनेन्द्र भगवान के प्रति श्रद्धा रखते हुए हिंसा आदि पाच पापों का त्याग करने की प्रतिज्ञा लेता है उसे पाक्षिक-श्रावक कहते हैं।

पाणिजन्तुवध—आहार ग्रहण करते समय यदि साधु की अजुलि में चींटी आदि जीव मर जाता है तो यह पाणिजन्तुवध नाम का अतराय है।

पाणिपिण्ड-पतन—आहार करते समय यदि साधु की अजलि से ग्रास आदि गिर जाता है तो यह पाणिपिण्ड पतन नाम का अतराय है।

परीषह-जय—भूख-प्यास आदि वेदना के होने पर कर्मों की निर्जरा के लिए उसे समतापूर्वक सहन कर लेना परीषह-जय कहलाता है। क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृण-स्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, अदर्शन—ऐसे बाईस परीषह होते हैं।

परोक्ष-ज्ञान—जो इन्द्रिय, मन एवं प्रकाश आदि की सहायता से होता है उसे परोक्ष-ज्ञान कहा जाता है। वास्तव में यह इन्द्रिय-ज्ञान है। लोक-व्यवहार में यह प्रत्यक्ष की भाँति होने से साव्यवहारिक-प्रत्यक्ष भी कहलाता है। मति व श्रुत—ये दोनों परोक्ष-ज्ञान हैं।

पर्याप्तक—जिस प्रकार गृह वस्त्रादि अचेतन पदार्थ पूर्ण और अपूर्ण दोनों प्रकार के होते हैं उसी प्रकार जीव भी पूर्ण व अपूर्ण दोनों प्रकार के होते हैं। जो जीव अपने योग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण कर लेते हैं वे पर्याप्तक कहलाते हैं जो पर्याप्तियाँ पूर्ण नहीं कर पाते वे अपर्याप्तक कहलाते हैं।

पर्याप्ति—आहार, शरीर आदि की निष्पत्ति को पर्याप्ति कहते हैं। जन्म स्थान में प्रवेश करते ही जीव वहाँ अपने शरीर के योग्य कुछ पुद्गल परमाणुओं रूप आहार ग्रहण करता है फिर अपने योग्य शरीर, इन्द्रिय, श्वास, भाषा और मन का निर्माण करता है। यही वह पर्याप्तियाँ होती हैं। जीव अपने योग्य पर्याप्तियों का प्रारम्भ एक साथ करता है लेकिन पूर्णता क्रमशः होती है। सभी पर्याप्ति पूर्ण होने में एक अन्तर्मुहूर्त लगता है।

पर्याप्त-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीवों के आहार, शरीर, इन्द्रिय

आदि पर्याप्तियों की पूर्णता होती है उसे पर्याप्त-नामकर्म कहते हैं।

पर्याय-द्रव्य की अवस्था विशेष को पर्याय कहते हैं। पर्याय एक ऋ बाद दूसरी इस प्रकार क्रमशः होती है। अतः पर्याय को क्रमवर्ती या क्रमवर्ती कहा जाता है। पर्याय दो प्रकार की होती है—अर्थ-पर्याय और व्यजन-पर्याय। ये स्वभाव और विभाव रूप होती हैं।

पर्यायार्थिक-नय—जो द्रव्य को गौण करके मुख्य रूप से पर्याय को अनुभव करावे वह पर्यायार्थिक-नय है। जैसे—‘कुण्डल लाओ’—यह कहने पर व्यक्ति कड़ा आदि नहीं लाता क्योंकि कुण्डल रूप पर्याय ही उसे इष्ट है। सारा लोक-व्यवहार इसी नय की दृष्टि से चलता है।

पर्व-धर्म-सचय की कारणभूत अष्टमी आदि विशेष तिथियों को पर्व कहते हैं।

पश्चात्स्तुति—यदि साधु आहार ग्रहण करने के बाद दाता की प्रशंसा करता है तो यह पश्चात्स्तुति नामक दोष है।

पाक्षिक-श्रावक—मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भाव की वृद्धि करना तथा हिंसा का त्याग करना यही जैनो का पक्ष है। इसलिए जो जिनेन्द्र भगवान के प्रति श्रद्धा रखते हुए हिंसा आदि पाच पापो का त्याग करने की प्रतिज्ञा लेता है उसे पाक्षिक-श्रावक कहते हैं।

पाणिजन्तुवध—आहार ग्रहण करते समय यदि साधु की अंजलि में चींटी आदि जीव मर जाता है तो यह पाणिजन्तुवध नाम का अंतराय है।

पाणिपिण्ड-पतन—आहार करते समय यदि साधु की अंजलि से ग्रास आदि गिर जाता है तो यह पाणिपिण्ड पतन नाम का अंतराय है।

पापानुवधी-पुण्य-पुण्य के उदय से प्राप्त बुद्धि, कोशल, निरोग शरीर आदि क्षमताओं को पापार्जन में लगा देना यह पापानुवधी-पुण्य का उपभोग है।

पापोपदेश-विना प्रयोजन के दूसरों को हिसाजन्य खेती, व्यापार आदि पाप कार्य करने का उपदेश देना पापोपदेश नाम का अनर्थदंड है।

पारिग्राहिकी-क्रिया-परिग्रह के अर्जन और संरक्षण के लिए जो क्रिया की जाती है वह पारिग्राहिकी-क्रिया है।

पारिणामिक-भाव-परिणाम अर्थात् स्वभाव से जो होते हैं वे पारिणामिक भाव हैं। आशय यह है कि कर्म के उदय, क्षय, उपशम और क्षयोपशम की अपेक्षा न रखते हुए जो जीव के स्वभावभूत भाव हैं वे पारिणामिक-भाव कहलाते हैं। ये तीन प्रकार के हैं-जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व।

पारितापिकी क्रिया-जो दुख के बढ़ाने में कारण है वह पारितापिकी-क्रिया है।

पार्थिवी-धारणा-पिंडस्थ ध्यान करने वाला योगी सवपथम अत्यन्त शांत और संकंद क्षीर समुद्र का ध्यान करे फिर उसका मध्य में सुंदर कमल का चिन्तन करे तत्पश्चात् उस कमल के मध्य स्थित रत्नमय शयन के सिंहासन का चिन्तन करे। अंत में उस सिंहासन पर मंत्र कर्मों का क्षय करने में समर्थ निज आत्मा का चिन्तन करे यह पार्थिवी-धारणा है।

पाश्वनाथ—तंडसवे तीर्थकर । उग्रवशी गजा विश्वमेन आग् रानी ब्राह्मी
 (शामादेवी) के यहां इनका जन्म हुआ । इनकी आयु सौ वर्ष थी । नो
 हाथ ऊंचा इनका शरीर हरे रंग की आभा वाला था । सोलह वर्ष की
 अवस्था में ये अपन नाना महीपाल के यहां गए । वहां पचाग्नितप
 करने के लिए लकड़ी जलाने वाल तापम को राका आग बताया कि
 इसमें नागयुगल है । तब क्रोधवश उसने लकड़ी काट दी । उसमें से
 निकले मरणामन्न नाग के जोड़े को इन्होंने धर्मोपदेश दिया जिससे
 वह मपयुगल मरकर धरणेन्द्र आर पद्मावती नाम का देव-युगल हुआ ।
 तीस वर्ष की कुमार अवस्था में इन्होंने विरक्त होकर जिनदीक्षा ले
 ली । तपस्या काल में कमठ के जीव शम्बर देव ने इन पर उपसर्ग
 किया । धरणेन्द्र-पद्मावती ने आकर उपसर्ग निवारण किया । उपसर्ग
 निवारण के साथ ही इन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ । इनके मध में स्वयम्भू
 आदि दस गणधर, सोलह हजार मुनि, छत्तीस हजार आर्यिकाएँ, एक
 लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाएँ थी । इन्होंने सम्मदशिक्षर
 से निवाण प्राप्त किया ।

पाश्वस्थ—जो सयम का निर्दोष पालन नहीं करते, सदा एक ही
 वसतिका में रहते हैं, दोषयुक्त आहार लेते हैं, उपकरणों के द्वारा
 जीविका चलाते हैं, दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य और तप की विनय नहीं करते
 और सयमी गुणवान साधुओं को दापी ठहराते हैं ऐसे साधु पाश्वस्थ
 कहलाते हैं । ये वदनीय नहीं हैं ।

पिण्डस्थ-ध्यान—निजात्मा का चिन्तन करना पिण्डस्थ ध्यान है ।
 पिण्डस्थ ध्यान करने वाला योगी अनेक प्रकार की धारणाओं के द्वारा
 मन को एकाग्र करने का प्रयत्न करता है । इसमें पांच धारणाएँ क्रम

से होती है—पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी ओर तत्त्वरूपवती ।

पिच्छिका—यह दिगम्बर मुनि की पहचान का बाह्य चिह्न है । इसे धारण करने से मुनिजन प्राचीन मुनियों के प्रतिनिधि स्वरूप है, ऐसा निश्चय हो जाता है । यह मयूर के द्वारा स्वतः छोड़े गये पखो से बनायी जाती है । यह धूल व पसीने से मेली नहीं होती, कोमल, मृदु और हल्की होती है । मुनिराज इसके द्वारा जीव दया का पालन करते हैं । इसलिए यह समय का उपकरण भी है ।

पिपासा-परीषह-जय—जो साधु ग्रीष्म-ऋतु के आतप या पित्त ज्वर आदि से उत्पन्न होने वाली तीव्र प्यास को समता भाव से सहन करते हैं ओर उसके प्रतिकार का उपाय नहीं करते, उनके यह पिपासा-परीषह-जय कहलाता है ।

पिहित—जो आहार अप्राप्तुक वस्तु से ढका है उसे निकालकर साधु को देना पिहित नाम का दोष है ।

पुण्डरीक—जिसमें भवनवासी आदि चार प्रकार के देवों में उत्पत्ति के कारणभूत दान, पूजा आदि अनुष्ठानों का वर्णन किया गया है वह पुण्डरीक नाम का अङ्गबाह्य है ।

पुण्य—जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होती है उसे पुण्य कहते हैं । अथवा जीव के दया, दान, पूजा आदि रूप शुभ परिणाम को पुण्य कहते हैं ।

पुण्यानुवधी-पाप—पाप के उदय से मिले अपग या रुग्ण शरीर तथा मद बुद्धि आदि होने पर भी पुण्य-कार्य में लगे रहना पुण्यानुवधी-पाप

का उपभाग है।

पुण्यानुवर्गी पुण्य-पुण्य के उदय में पाप्म वृद्धि, काशल, निगंग शरीर आदि श्रमताओं का पुण्याजन में लगा देना यह पुण्यानुवर्गी-पुण्य का उपभाग है।

पुत्र-जो पिता के पवित्र आचरण का अनुसरण करके अपने आपको और अपने वंश में पवित्र करे उसे पुत्र कहते हैं।

पुद्गल-जो पूरण और गलन स्वभाव वाला है वह पुद्गल है। अधवा जिममें रूप, रस, गंध व स्पर्श ये चारों गुण पाए जाते हैं उसे पुद्गल कहते हैं। पुद्गल के दो भेद हैं—स्क्रय व परमाणु।

पुद्गल-विपाकी-जिन कर्मों का विपाक अर्थात् फल मुख्यतः पुद्गल रूप शरीर में होता है वह पुद्गल-विपाकी कर्म हैं। इनके निमित्त से जीव के शरीर आदि की संरचना होती है।

पुराण-त्रसठ जलाका पुरुषों के जीवन-चरित्र पर आधारित शास्त्र को पुराण कहते हैं।

पुरुष-वेद-जिस कर्म के उदय से स्त्री के प्रति कामसेवन का भाव उत्पन्न होता है वह पुरुषवेद है।

पुरुषार्थ-चेष्टा या प्रयत्न करना पुरुषार्थ है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—यह चार प्रकार का पुरुषार्थ कहा गया है। धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ के द्वारा जीव मोक्ष प्राप्त करता है। धर्म से रहित अर्थ और काम पुरुषार्थ मात्र ससार बढ़ाने वाले हैं।

को दना पूति दोष है। अथवा चूल्हा, ओखली, चम्मच, भोजन पकाने के वर्तन तथा सुगंध युक्त द्रव्य—इन पाचों में ऐसा सकल्प करना कि इस चूल्हे आदि से बना भोजन जब तक साधु को न दे दे तब तक अन्य किसी को नहीं देगे यह पूति-दाप है।

पूर्व—1 जिसमें उत्पाद, व्यय और घात आदि की प्ररूपणा की जाती है उसे पूर्व कहते हैं। पूर्व के चौदह भेद प्रसिद्ध हैं। 2 यह काल का एक विशेष प्रमाण है। चौरासी लाख वर्ष का एक पूर्वांग होता है और चौरासी लाख पूर्वांग का एक पूर्व होता है।

पूर्व-स्तुति—यदि साधु दाता के सामने उसकी स्तुति करके आहार ग्रहण करता है तो पूर्व-स्तुति नाम का दोष है।

पृच्छना—ग्रथ या ग्रथ के अर्थ के विषय में सशय दूर करने के लिए या निर्णय की पुष्टि के लिए दूसरे से पूछना या प्रश्न करना पृच्छना नाम का स्वाध्याय है।

पृथक्त्व—1 द्रव्य, गुण और पर्याय के भिन्नपन को पृथक्त्व कहते हैं। 2 पृथक्त्व यह आगमिक सज्ञा है। इसके द्वारा तीन से नौ के मध्य की किसी सख्या का बोध होता है। जैसे—वर्ष-पृथक्त्व कहने पर तीन से नौ वर्ष के बीच की अवधि का बोध होता है।

पृथक्त्व-विक्रिया—अपने शरीर से भिन्न भवन, मंडप आदि अनेक रूप धारण करने की सामर्थ्य होना पृथक्त्व-विक्रिया कहलाती है। यह देवों में जन्म से पायी जाती है तथा मनुष्यों को तप व विद्या से प्राप्त होती है।

पृथक्त्व-वितर्क-वीचार—इस ध्यान में प्रवेश पाने वाले महामुनि समस्त रागादि विकल्पो से रहित होकर अनेक द्रव्यों का अलग-अलग

आलम्बन लेकर अर्थ, व्यजन और योगो मे परिवर्तन करते हुए श्रुतज्ञान के माध्यम से ध्यान करते है। यह पहला शुक्ल-ध्यान है।

पृथिवीकाय-पृथिवीकायिक जीव के द्वारा छोडे गए शरीर को पृथिवीकाय कहते है।

पृथिवीकायिक-पृथिवी ही जिसका शरीर है उसे पृथिवीकायिक-जीव कहते है।

पृथिवीजीव-जो जीव पृथिवीकायिक मे उत्पन्न होने के लिए विग्रहगति मे जा रहा है उसे पृथिवी-जीव कहते है।

पेय-पीने योग्य दूध, पानी आदि पतले पदार्थ पेय कहलाते है।

पोतज-जिस जीव के शरीर के सब अवयव बिना आवरण के पूरे हुए हे ओर जो गर्भ से बाहर निकलते ही चलने-फिरने मे समर्थ होता है उसे पोत कहते है। पोत-रूप से जन्म लेना पोतज कहलाता है। हरिण आदि जीव पोतज होते है।

प्रकृति-वध-प्रकृति का अर्थ स्वभाव होता है। जैसे गुड मे मधुरता का होना उसकी प्रकृति है। इसी प्रकार आत्मा के द्वारा ग्रहण किए गए पुद्गल स्कध मे ज्ञान आदि को आवरित करने रूप कर्म प्रकृति का होना ही प्रकृति वध है। प्रकृति वध दो प्रकार का है-मूल प्रकृति ओर उत्तर प्रकृति। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अतराय ये आठ मूल कर्म प्रकृतिया है। इन मूल प्रकृतियों के भेद-प्रभेद रूप एक सौ अडतालीस उत्तर प्रकृतिया है। एक बार खाए गए अन्न का जिस प्रकार रस, रुधिर आदि रूप

सं अनेक प्रकार का परिणमन होता है उसी प्रकार एक आत्म-परिणाम के द्वारा ग्रहण किए गए पुद्गल ज्ञानावरणादि रूप अनेक भेदों का प्राप्त हाते हैं।

प्रचला—मद, खेद या थकावट आदि के कारण वेठे-वेठे ही अपनी आ जाना प्रचला है। प्रचला के तीव्र उदय में जीव किंचित् नेत्रों को खोलकर सांता है और सोता हुआ भी कुछ जागता रहता है। बार-बार सोता और जागता है। सिर थोड़ा-थोड़ा हिलता रहता है।

प्रचला-प्रचला—प्रचला की पुनरावृत्ति का नाम प्रचला-प्रचला है। प्रचला-प्रचला के तीव्र उदय में जीव खड़े-खड़े भी सो जाता है और हाथ, पैर, सिर आदि चलायमान हो जाते हैं।

प्रज्ञा-परीषह-जय—अनेक शास्त्रों में पारंगत और निपुण होते हुए भी जो साधु अपने शास्त्र ज्ञान का अभिमान नहीं करता और सदा समता रखता है उसका यह प्रज्ञा-परीषह-जय कहलाता है।

प्रज्ञा-श्रमण-ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु विशेष अध्ययन के बिना भी समस्त शास्त्रों को सूक्ष्मता से जानने में समर्थ होता है उसे प्रज्ञा-श्रमण-ऋद्धि कहते हैं।

प्रतिक्रमण—1 किए गये दोषों की निवृत्ति का नाम प्रतिक्रमण है। जब चरित्र का पालन करते हुए साधु से कोई दोष हो जाता है तो मन, वचन से 'मेने यह अयोग्य कार्य किया' ऐसा पश्चात्ताप रूप परिणाम उत्पन्न होता है। यही प्रतिक्रमण कहलाता है। देवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक, ईर्यापथ और उत्तमार्थ के भेद से प्रतिक्रमण सात प्रकार का है। यह साधु का एक मूलगुण है।

2 जिसमें देश काल के अनुरूप सात प्रकार के प्रतिक्रमण का कथन किया गया है वह प्रतिक्रमण नाम का अङ्गबाह्य है।

प्रतिजीवी-गुण—द्रव्य में जो अभाव रूप गुण है उन्हें प्रतिजीवी-गुण कहते हैं। जैसे नास्तित्व, अमूर्तत्व आदि।

प्रतिनारायण—ये नारायण के शत्रु होते हैं और युद्ध में नारायण के हाथों मरण को प्राप्त कर नरक जाते हैं। एक अवसर्पिणी या उत्सर्पिणी काल में कुल नौ प्रतिनारायण होते हैं। अन्य शलाका पुरुषों की तरह इनका शरीर भी उत्तम सहनन व उत्तम सस्थान वाला होता है।

प्रतिमा—1 नेष्टिक श्रावक के व्रतादि गुणों में उत्तरोत्तर विकास के ग्यारह स्थान कहे गये हैं। यही श्रावक की ग्यारह प्रतिमा कहलाती है। आगे की प्रतिमा के साथ पहले की प्रतिमा के व्रत नियम भी पालन करना अनिवार्य होता है। 2 अर्हन्त आदि की वीतराग मूर्ति को प्रतिमा कहते हैं। यह पाषाण, काष्ठ, धातु, रत्न आदि से निर्मित हो सकती है।

प्रतिष्ठा—मन्त्रोच्चारण आदि विधि-विधान पूर्वक रत्न, पाषाण आदि से निर्मित वीतराग प्रतिमा में अर्हन्त आदि की स्थापना करना प्रतिष्ठा कहलाती है।

प्रतिष्ठापन-समिति—जहां जीवों की विराधना न हो ऐसे निर्जन्तुक स्थान में मल मूत्र आदि का सावधानी से विसर्जन करना प्रतिष्ठापन या उत्सर्ग समिति है। यह साधु का एक मूलगुण है।

प्रतीत्य-सत्य—अन्य वस्तु की अपेक्षा से जो कहा जाए वह प्रतीत्य-सत्य है। जैसे—‘यह दीर्घ है’ या ‘वह ह्रस्व है’

प्रत्यक्ष-ज्ञान—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना जो स्पष्ट और विशद ज्ञान आत्मा में होता है उसे प्रत्यक्ष-ज्ञान कहते हैं। प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—सकल और विकल। केवलज्ञान सकल-प्रत्यक्ष है और अवधिज्ञान एवं मन पर्ययज्ञान विकल-प्रत्यक्ष है।

प्रत्यभिज्ञान—‘यह वही है’—इस प्रकार के स्मरण को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। आशय यह है कि पहले जिस वस्तु को देखा था उसे पुनः देखने पर ‘यह वही है’—इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान होता है। प्रत्यभिज्ञान अनेक प्रकार से होता है जैसे—‘यह वही है’, ‘यह उसके सदृश्य है’, ‘यह उससे भिन्न है’ आदि।

प्रत्यय—प्रत्यय शब्द के अनेक अर्थ हैं। प्रत्यय का अर्थ ज्ञान है। प्रत्यय का अर्थ श्रद्धा भी है। प्रत्यय शब्द हेतु या कारण वाचक भी है। जेनागम में प्रत्यय शब्द मुख्यतः आस्रव व वध के कारणों के लिए प्रयुक्त होता है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग यह पांच आस्रव व वध के हेतु या प्रत्यय कहलाते हैं।

प्रत्याख्यान—भविष्य में दोष न होने देने के लिए सन्नद्ध होना प्रत्याख्यान है। अथवा साधु के द्वारा आहार ग्रहण करने के उपरान्त निश्चित काल के लिए जो सब प्रकार के आहार का त्याग कर दिया जाता है वह प्रत्याख्यान कहलाता है। यह साधु का एक मूलगुण है। इसके छह भेद हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। अयोग्य नामों का उच्चारण नहीं करने का सकल्प लेना नाम प्रत्याख्यान है। वीतरागी के सिवाय अन्य किसी प्रतिमा की पूजा नहीं करने का सकल्प लेना स्थापना-प्रत्याख्यान है। अयोग्य आहार व उपकरण आदि ग्रहण

न करने का सकल्प करना द्रव्य-प्रत्याख्यान है। सकलेश उत्पन्न कराने वाले स्थान का त्याग करना क्षेत्र-प्रत्याख्यान है। अयोग्य काल का त्याग करना काल-प्रत्याख्यान है। अशुभ-परिणामों के त्याग का सकल्प करना भाव-प्रत्याख्यान है।

प्रत्याख्यान-प्रवाद—जिसमें व्रत, नियम, प्रतिक्रमण, तप, आराधना आदि का तथा साधु के अयोग्य वस्तु के त्याग आदि का वर्णन है वह प्रत्याख्यान-प्रवाद-पूर्व नाम का नोवा पूर्व है।

प्रत्याख्यान-सेवना—यदि साधु आहार करते समय त्याग की गई वस्तु को प्रमादवश ग्रहण करे तो वह प्रत्याख्यान-सेवना नाम का अन्तराय है।

प्रत्याख्यानावरण—जिस कषाय के उदय में जीव सकल समय अर्थात् महाव्रतों को धारण करने में समर्थ नहीं होता उसे प्रत्याख्यानावरण कहते हैं। यह क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों रूपों में होती है।

प्रत्याहार—मन की प्रवृत्ति का सकोच कर लेने पर जो मानसिक सतोष होता है उसे प्रत्याहार कहते हैं। यह ध्यान का एक अङ्ग है।

प्रत्येक-वनस्पति-जीव—जिसमें एक शरीर का स्वामी एक जीव होता है वह प्रत्येक वनस्पति कहलाती है। अथवा प्रत्येक अर्थात् एक-एक जीव का एक-एक पृथक् शरीर जिसमें होता है वह प्रत्येक वनस्पति है। प्रत्येक वनस्पति के दो भेद हैं—सप्रतिष्ठित-प्रत्येक और अप्रतिष्ठित-प्रत्येक। तृण, तल छोटे वृक्ष, बड़े वृक्ष आदि कन्द मूल—गन् पाँच रूपों में प्रत्येक वनस्पति दिखाई पड़ती है। ये पाँचों

वनस्पति जब निगोद या साधारण शरीर से आश्रित हो तो सप्रतिष्ठित-प्रत्येक कहलाती है और जब निगोद से रहित हो तो अप्रतिष्ठित-प्रत्येक कहलाती है।

प्रत्येक-बुद्धि ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से गुरु के उपदेश के बिना ही कर्मों के उपशम से सम्यग्ज्ञान और तप के विषय में प्रगति होती है उसे प्रत्येक-बुद्धि-ऋद्धि कहते हैं।

प्रत्येक-शरीर—जिस कर्म के निमित्त से एक शरीर का स्वामी एक जीव होता है उसे प्रत्येक-शरीर-नामकर्म कहते हैं।

प्रथमानुयोग—1 एक महापुरुष सबधी या त्रैलोक्य शलाका पुरुष सबधी कथा रूप शास्त्र को प्रथमानुयोग कहते हैं। यह पुण्यवर्धक, बोधि व समाधिदायक परमार्थ का कथन करने वाला जिनवाणी का प्रमुख अङ्ग है। कथा का माध्यम से धर्म के स्वरूप का प्रतिपादन करने वाला यह अनुयोग प्राथमिक जीवों के लिए अत्यंत उपकारी है। इसे सुनकर जीवों का सम्यग्दर्शन रूप बोधि और धर्म व शुक्ल ध्यान रूप समाधि की प्राप्ति होती है। इसमें वर्णित कथा वास्तविक होती है, कल्पित नहीं होती। जम्बूस्वामी-चरित्र, प्रद्युम्न-चरित्र, महापुराण, उत्तरपुराण, पद्मपुराण आदि ग्रंथ प्रथमानुयोग रूप हैं। 2 जो पुराणों का वर्णन करता है वह प्रथमानुयोग है। यह दृष्टिवाद नामक वारहवे अङ्ग का तीसरा भेद है।

प्रथमोपशम-सम्यक्त्व—मिथ्यादृष्टि जीव के मिथ्यात्व से छूटकर जो सर्वप्रथम उपशम-सम्यक्त्व होता है वह प्रथमोपशम-सम्यक्त्व कहलाता है। प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त करने वाला जीव पंचेन्द्रिय,

सजी, मिथ्यादृष्टि, पर्याप्तक और सर्व विशुद्ध होना चाहिए। नारकी, तिर्यच, मनुष्य और देव ये चारों ही गति के मिथ्यादृष्टि जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न कर सकते हैं।

प्रदेश—एक परमाणु आकाश में जितनी जगह घेरता है उतने आकाश को एक प्रदेश कहते हैं।

प्रदेशत्व—जिसके द्वारा द्रव्य का कोई न कोई आकार बना रहता है वह प्रदेशत्व गुण है।

प्रदेशवय—1 कर्म-प्रकृतियों के कारणभूत प्रतिसमय योग-विशेष के द्वारा सूक्ष्म एक क्षेत्रावगाही और स्थित अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु सब आत्म-प्रदेशों में सवध को प्राप्त होते हैं, यह प्रदेश-वध है।

2 कर्म रूप से परिणत पुद्गल स्वर्घा का परमाणु की जानकारी करके निश्चय करना प्रदेश-वध है।

प्रभाव—शाप और अनुग्रह की शक्ति को प्रभाव कहते हैं। यह शक्ति देवों में पायी जाती है।

प्रभावना—1 ज्ञान, ध्यान, तपश्चरण, दया, दान तथा जिनपूजा आदि के द्वारा जिन-धर्म की महिमा को प्रकाशित करना प्रभावना है।

2 रत्नत्रय के प्रभाव से अपनी आत्मा को प्रकाशित करना प्रभावना है। यह सम्यग्दृष्टि का एक गुण है।

प्रमत्त-सयत्त—जो साधु व्यक्त और अव्यक्त प्रमाद से युक्त रहकर भी महाव्रतों का पालन करते हैं वे प्रमत्त-सयत्त कहलाते हैं। आहार-विहार, अध्ययन-मनन और धर्मोपदेश आदि शुभ क्रिया रूप प्रमाद से युक्त

होने के कारण ये प्रमत्त-सयत ह ।

प्रमाण—सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते हैं । प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्रमाण दो प्रकार का है । स्वार्थ और परार्थ—ये दो भेद भी प्रमाण के हैं । ज्ञानात्मक प्रमाण को स्वार्थ प्रमाण कहते हैं और वचनात्मक प्रमाण को परार्थ प्रमाण कहा गया है । श्रुतज्ञान को छोड़कर शेष चारों ज्ञान स्वार्थ प्रमाण हैं तथा श्रुतज्ञान स्वाथ व परार्थ दोनों रूप हैं ।

प्रमाण-दोष—साधु यदि मात्रा से अधिक आहार ग्रहण करे तो यह प्रमाण-दोष कहलाता है । जितने आहार से धैर्य, बल, समय और योग ठीक बना रहे उतना ही आहार का प्रमाण है ।

प्रमाद—1 अच्छे कार्यों के करने में आदर-भाव का न होना प्रमाद कहलाता है । 2 सज्ज्वलन कपाय के तीव्र उदय का नाम प्रमाद है । प्रमाद के पंद्रह भेद हैं—चार विकथा, पाच इन्द्रिय, चार कषाय, निद्रा और प्रणय ।

प्रमाद-चर्या—विना प्रयोजन के पृथिवी खोदना, जल फैलाना, अग्नि जलाना-बुझाना, वनस्पति को छेदना, गमन करना या कराना प्रमाद-चर्या नाम का अनर्थदण्ड है ।

प्रमादवर्धक—जिसके संवन से उन्माद या नशा आता है ऐसे मदिरा आदि मादक पदार्थ प्रमादवर्धक अभक्ष्य कहलाते हैं ।

प्रमेयत्व—जिसके द्वारा द्रव्य किसी न किसी ज्ञान का विषय बनता है अर्थात् जानने में आता है वह प्रमेयत्व-गुण है ।

प्रमोद—गुणीजनो को देखकर मुख की प्रसन्नता आदि के द्वारा अतरंग भक्ति और अनुराग का व्यक्त होना प्रमोद है।

प्रयोग-क्रिया—शरीर के द्वारा होने वाली गमनागमन आदि रूप प्रवृत्ति ही प्रयोग-क्रिया है।

प्रवचन—वर्ण, पंक्ति आदि रूप द्वादशांग को प्रवचन कहते हैं। अथवा अर्हन्त भगवान के वचन रूप आगम को प्रवचन कहते हैं।

प्रवचन-भक्ति—द्वादशांग रूप प्रवचन में कहे गए अर्थ का अनुष्ठान करना प्रवचन-भक्ति है। अथवा प्रवचन में अनुराग रखना प्रवचन-भक्ति है। यह सोलह-कारण भावना में एक भावना है।

प्रवचन-मातृका—पाच समिति और तीन गुप्ति को अष्ट प्रवचन-मातृका कहते हैं। ये अष्ट प्रवचन-मातृका मुनि के ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की सदा ऐसे रक्षा करती हैं जैसे पुत्र का हित करने में सावधान माता उसे सदा पापी से वचाती है।

प्रवचन-वत्सलत्व—जिस प्रकार गाय अपने बछड़े से सहज स्नेह करती है उसी प्रकार धर्मात्मा को देखकर सहज स्नेह से ओतप्रोत हो जाना प्रवचन-वत्सलत्व है। यह सोलह कारण भावना में एक भावना है।

प्रव्रज्या—जिनदीक्षा को प्रव्रज्या कहते हैं। वैराग्य से ओतप्रोत होकर निर्ग्रन्थ गुरु की शरण में जाकर समस्त आरम्भ-परिग्रह का त्याग करके यथाजात बालकवत् निर्विकार नग्न रूप धारण करना और समता पूर्वक तपस्वी जीवन जीने की प्रतिज्ञा करना प्रव्रज्या कहलाती है।

प्रशम—पचेन्द्रिय के विषयो में तथा तीव्र क्रोधादि में मन को नहीं जाने

देना प्रशम-भाव है। यह सम्यग्दृष्टि का एक गुण है।

प्रशस्त-नि सरणात्मक-तेजस-जगत् के जीवों को रोग शोक आदि से पीड़ित देखकर परम तपस्वी दयालु साधु की इच्छा से हस के समान उज्ज्वल सुंदर आकृति वाला पुरुष उनके दाहिने कंधे से निकलकर व्याधि, वेदना, दुर्भिक्ष आदि को शांत कर सब जीवों को सुख उत्पन्न करता है, यह प्रशस्त नि सरणात्मक-तेजस या शुभ तेजस कहलाता है।

प्रशस्त-राग-अरहन्त, सिद्ध, साधुओं के प्रति भक्ति, दान, पूजा आदि धर्म कार्यों में उत्साह और गुरुओं का अनुकरण करना प्रशस्त-राग कहलाता है।

प्रश्न-व्याकरणाङ्ग-जिसमें युक्ति और नयों के द्वारा अनेक प्रश्नों का उत्तर दिया गया है वह प्रश्न-व्याकरणाङ्ग है।

प्रस्रवण-यदि आहार के समय साधु के शरीर से किसी रोगवश अनायास मूत्रादि निकले तो यह प्रस्रवण नाम का अतराय है।

प्रहार-यदि आहार के समय साधु के ऊपर या किसी दूसरे के ऊपर कोई प्रहार कर दे तो यह प्रहार नाम का अतराय है।

प्राकाम्य ऋद्धि-जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु जल के समान पृथिवी पर और पृथिवी के समान जल पर गमन करने में समर्थ होते हैं वह प्राकाम्य-ऋद्धि कहलाती है।

प्राण-जिसके द्वारा प्रत्येक जीव जीता है उसे प्राण कहते हैं। प्राण दो प्रकार के हैं—द्रव्य-प्राण और भाव-प्राण। जीव के चेतना या ज्ञान-दर्शन

रूप भाव-प्राण है तथा पाच इन्द्रियप्राण, मन, वचन, काय, रूप तीन वलप्राण, आयु और श्वासोच्छ्वास—इस तरह दस द्रव्य-प्राण है।

प्राणातिपातिकी-क्रिया—जीव के प्राणों का वियोग करने वाली क्रिया को प्राणातिपातिकी-क्रिया कहते हैं।

प्राणापान—देखिए उच्छ्वास नामकर्म।

प्राणायाम—मन, वचन और काय की क्रिया को नियंत्रित करना तथा शुभ-भाव रखना प्राणायाम कहलाता है। प्राणायाम के तीन अङ्ग हैं—श्वास को धीरे-धीरे अंदर खींचना कुम्भक है, उसे रोके रहना पूरक है और धीरे-धीरे उसे बाहर छोड़ना रेचक है। इन तीनों का अभ्यास प्राणायाम कहलाता है। जैनागम में इसे अधिक महत्वपूर्ण नहीं माना गया है क्योंकि चित्त की एकाग्रता हो जाने पर श्वास का नियंत्रण स्वतः हो जाता है।

प्राणावाय-प्रवाद—शरीर-चिकित्सा आदि अष्टाग आयुर्वेद, भूतिकर्म, विषविद्या तथा प्राणायाम आदि के भेद-प्रभेदों का वर्णन करने वाला प्राणावाय-प्रवाद-पूर्व नाम का बारहवा पूर्व है।

प्राणिसयम—देखिए सयम।

प्रातिहार्य—अर्हन्त भगवान् की महिमा और विभूति प्रकट करने वाले प्रातिहार्य होते हैं। अशोक वृक्ष, तीन छत्र, सिंहासन, दिव्यध्वनि, दुन्दुभि, पुष्पवृष्टि, भामण्डल और चौसठ चमर—ये आठ प्रातिहार्य प्रसिद्ध हैं।

प्रात्ययिकी क्रिया—नये-नये अधिकरणों का उत्पन्न करना प्रात्ययिकी-क्रिया है।

प्रादुष्कार-दोष—यह दोष सक्रमण और प्रकाशन के भेद से दो प्रकार का है। साधु के आ जाने पर आहार सामग्री एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना सक्रमण नाम का प्रादुष्कार-दोष है तथा आहार के स्थान पर प्रकाश कम होने पर किवाड़ खोलना या दीपक आदि जलाना प्रकाशन नाम का प्रादुष्कार-दोष है।

प्रादोषिकी-क्रिया—क्रोध के आवेश से होने वाली प्रादोषिकी-क्रिया है।

प्राप्ति ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु भूमि पर स्थित रहकर अगुलि के अग्र भाग से सूर्य, चंद्र, को, मरुशिखर को या अन्य वस्तुओं का स्पर्श करने में समर्थ होता है वह प्राप्ति-ऋद्धि है।

प्राभृत-दोष—दिन, पक्ष, महीना, वर्ष या ऋतु आदि को बदलकर आहार देना प्राभृत-दोष है। अथवा प्रातः का मध्याह्न में और मध्याह्न का प्रातः काल में, ऐसा समय बदलकर साधु को आहार देना प्राभृत-दोष है।

प्रामृष्य—साधु को आहार कराने के लिए दूसरे से आहार सामग्री उधार लेना प्रामृष्य नामक दोष है।

प्रायश्चित्त—प्रमादजन्य दोषों का परिहार करना प्रायश्चित्त नाम का तप है। व्रता में दोष लगने पर साधु अपने दोषों का निराकरण करने के लिए जो उपवास आदि अनुष्ठान करते हैं वह प्रायश्चित्त कहलाता है। यह साधु का एक मूलगुण है।

प्रायोग्य-तथ्य—सर्व कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति और उत्कृष्ट अनुभाग

को घात करके अन्त कोडाकोडी स्थिति में और द्विस्थानीय अनुभाग में स्थित कर देना प्रायोग्य-लब्धि कहलाती है।

प्रायोपगमन—जीवन पर्यन्त के लिए आहार का त्याग करके और समस्त सेवा-वेय्यावृत्ति से रहित होकर जो समाधि ली जाती है उसे प्रायोपगमन नामक सल्लेखना कहा गया है। इस प्रकार की सल्लेखना उत्तम सहनन के धारी महाबलशाली और शूरवीर तपस्वी साधु ही धारण कर सकते हैं। पचमकाल में यह संभव नहीं है।

प्रारभ-क्रिया—छेदना-भेदना, रचना करना आदि क्रियाओं में स्वयं तत्पर रहना तथा दूसरे के द्वारा किये जाने पर हर्षित होना प्रारभ-क्रिया है।

प्रासुक—जल, वनस्पति आदि को विशेष-प्रक्रिया के द्वारा सूक्ष्म जीवों के संचार से रहित कर लेना प्रासुक करना कहलाता है। जिसमें से एकेन्द्रिय आदि जीव निकल जाते हैं वह प्रासुक द्रव्य माना जाता है। स्वच्छ वस्त्र से छाना गया जल दो प्रहर तक प्रासुक रहता है तथा उबला हुआ जल चौबीस घंटे तक प्रासुक रहता है।

प्रासुक-मार्ग—जिस मार्ग से आवागमन हो रहा है, जो सूर्य की किरणों से तप चुका है या जहाँ खेती के लिए हल चलाया गया है वह प्रासुक-मार्ग है। साधु-जन प्रासुक-मार्ग से ही गमन करते हैं।

प्रेमानुराग—साधर्म्य भाई को प्रेमवश बार-बार उपदेश देकर सन्मार्ग पर स्थित रखने का भाव होना प्रेमानुराग कहलाता है।

प्रोषधोपवास—1 प्रोषध का अर्थ पर्व है। पर्व के दिन उपवास करना प्रोषधोपवास कहलाता है। 2 एक बार दिन में भोजन करना प्रोषध

है। जिस उपवास के पहले और बाद में प्रांपद्य किया जाए वह प्रांपद्योपवास है।

प्रांपद्योपवास-प्रतिमा—तीसरी सामायिक-प्रतिमा धारण करने के उपरान्त प्रतिमाह अष्टमी व चतुर्दशी के दिन उपवास करने की प्रतिज्ञा लेना—यह श्रावक की चौथी प्रांपद्योपवास-प्रतिमा कहलाती है।

फ

फल-चारण ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु फलों में रहने वाले जीवों को पीड़ा पहुँचाए बिना उनके ऊपर से चलने में समर्थ होते हैं वह फल-चारण-ऋद्धि कहलाती है।

ब

बन्ध-कर्म का आत्मा के साथ एकक्षेत्रावगाह होना बध कहलाता है। अथवा दूध व पानी की तरह कर्म और आत्मा का परस्पर सश्लेष सवध होना बध कहलाता है। बध दो प्रकार का है—भाव-बध और द्रव्य-बध। जीव के क्रोधादि परिणाम ही भाव-बध है तथा जीव के साथ ज्ञानावरणीय आदि पुद्गल कर्म का सवध होना द्रव्य-बध है। प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग के भेद से बध चार प्रकार का है।

बन्धन-नामकर्म—शरीर की रचना के लिए प्राप्त हुए पुद्गलो का जिस कर्म के उदय से परस्पर सश्लेष होता है वह बन्धन-नामकर्म है। यदि बन्धन नामकर्म न हो तो शरीर लकड़ियों के ढेर के समान हो जावेगा।

बकुश—जो निर्ग्रथ है और महाव्रतों का अखंड पालन करते हैं लेकिन शरीर व उपकरणों की शोभा बढ़ाने में रुचि रखते हैं तथा ऋद्धि व यश प्राप्ति की कामना करते हैं वे साधु बकुश कहलाते हैं।

बलभद्र—ये नारायण के सगे भाई होते हैं। हलायुध, बाण, गदा और माला—इन चार महारत्नों के साथ अपार वैभव के स्वामी होते हैं। एक उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी काल में कुल नौ बलभद्र उत्पन्न होते हैं जो स्वर्ग या मोक्षगामी हैं।

बलिशेष-दोष—यक्ष, नाग आदि देवों के लिए चढाई गई बलि अर्थात् पूजन सामग्री में से शेष बची हुई सामग्री साधु को आहार में देना बलिशेष नामक दोष है।

बहिरात्मा—जो जीव मिथ्यात्व के उदय से शरीर और आत्मा को एक मानता है वह बहिरात्मा है ।

बहु-अवग्रह—बहुत सी वस्तुओं को एक साथ जान लेना बहु-अवग्रह कहलाता है । जैसे—पाँचों अंगुलि को एक साथ जानना ।

बहुघात—जिनके सेवन से बहुत जीवों का घात होता है ऐसे कदमूल, आलू, मूली, गाजर, अजीर आदि बहुघात नामक अभक्ष्य है ।

बहुमान—बहुमान का अर्थ आदर या सम्मान है । मन को एकाग्र करके बड़े आदर से जिनवाणी का स्वाध्याय करना बहुमान कहलाता है ।

बहुविध-अवग्रह—बहुत सी वस्तुओं को या एक ही वस्तु को बहुत प्रकार से जानना बहुविध-अवग्रह कहलाता है । जैसे—गेहूँ, चना आदि बहुत प्रकार के धान्य को जानना ।

बहुश्रुत-भक्ति—जो मुनि द्वादशाङ्ग के पारगामी है वे बहुश्रुत कहलाते हैं । ऐसे बहुश्रुतवान के द्वारा उपदेशित आगम के अनुरूप प्रवृत्ति करना बहुश्रुत-भक्ति कहलाती है । यह सोलहकारण भावना में एक भावना है ।

बादर-काय—जिन जीवों का शरीर स्थूल अर्थात् प्रतिघात सहित होता है वे बादरकाय हैं । अथवा जो दूसरे को रोके और स्वयं भी दूसरे से रुके वह स्थूल या बादरकाय है ।

बादर-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव बादर-काय में उत्पन्न होता है वह बादर-नामकर्म है ।

बाल-तप—मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव के द्वारा किया जाने वाला तप

बाल-तप कहलाता है।

बाल-पण्डित-मरण-सम्यग्दृष्टि दशव्रती श्रावक का मरण बाल-पण्डित-मरण कहलाता है।

बाल-बाल-मरण-अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव के मरण को बाल-बाल-मरण कहते हैं।

बाल-मरण-अविरत-सम्यग्दृष्टि जीव का मरण बाल-मरण है।

बाहुवली—ये भगवान् ऋषभदेव के पुत्र और भरत चक्रवर्ती के छोटे भाई थे। इनकी मा का नाम सुनदा था। ऋषभदेव के वैराग्य के उपरांत इन्हें पौनपुर का युवराज पद मिला। अपने ही भाई भरत-चक्रवर्ती से युद्ध में जीतकर ससार से विरक्त हो गए। जिनदीक्षा लेकर एक वर्ष तक तपस्या में लीन रहकर केवलज्ञान प्राप्त किया और भगवान् ऋषभदेव से पहले ही मोक्ष चले गए। ध्यानावस्था में इनके शरीर पर लताएं लिपट गयीं और सर्पों ने आसपास बाबी बना ली फिर भी ये ध्यान मग्न रहे। इस बात को दर्शाने के लिए आज भी इनकी प्रतिमा पर लताएं लिपटी हुई दिखाई जाती हैं। दक्षिण भारत में स्थित गोमटेश्वर बाहुवली भगवान् की अत्यंत विशाल और सुंदर मूर्ति विश्व की आश्चर्य चकित करने वाली है।

बाह्य-तप—जो तप बाह्य द्रव्य के आलम्बन से होता है और दूसरे के देखने में आता है उसे बाह्य-तप कहते हैं। अनशन, अवमोदर्य, वृत्ति-परिसंख्यान, रस-परित्याग, विविक्त-शय्यासन और काय-क्लेश—ये छह प्रकार का बाह्य-तप है।

बीज-पद—जिस प्रकार बीज ही वृक्ष के मूल, फल, शाखा, पत्र आदि का आधार है उसी प्रकार द्वादशांग जिनवाणी के आधारभूत जो पद है वह बीज तुल्य होने से बीजपद कहलाते हैं।

बीज-बुद्धि ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु की बुद्धि एक ही बीज-पद के आश्रय से संपूर्ण द्वादशांग को जानने और विचार करने में समर्थ होती है उसे बीज-बुद्धि-ऋद्धि कहते हैं।

बीज-सम्यक्त्व—जिन जीवादि पदार्थों का ज्ञान दुर्लभ है उनका किसी बीज पद के द्वारा ज्ञान प्राप्त होने पर जो सम्यग्दर्शन होता है उसे बीज-सम्यक्त्व कहते हैं।

बुद्धि-बुद्धि का अर्थ ज्ञान है। या जिसके द्वारा अर्थ जाना जाए उसे बुद्धि कहते हैं। यह इन्द्रियो के आलम्बन से उत्पन्न होती है।

बोधि—सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र्य की प्राप्ति होना बोधि है।

बोधिदुर्लभ-अनुप्रेक्षा—निगोद से निकलना, त्रस पर्याय पाना, और सङ्गी पचेन्द्रिय मनुष्य होना अत्यन्त दुर्लभ है। कदाचित् इसकी प्राप्ति हो जाए तो उत्तम देश, कुल और नीरोगता प्राप्त होना कठिन है। इस सबके मिल जाने पर भी विषय सुख से विरक्त होना, रत्नत्रय रूप बोधि को अगीकार करके तप की भावना करना, समाधि पूर्वक मरण को प्राप्त होना और केवलज्ञान पाना अति दुर्लभ है यही बोधि का सुफल है—ऐसा बार-बार विचार करना बोधिदुर्लभ-अनुप्रेक्षा है।

बोधित-बुद्ध—जिनको परोपदेश पूर्वक ज्ञान की प्राप्ति होती है वे बोधित-बुद्ध कहलाते हैं।

ब्रह्मचर्य—मेथुन या कामसेवन का त्याग करना ब्रह्मचर्य है । अथवा ब्रह्म का अथ आत्मा है सो आत्मा में लीन होना ब्रह्मचर्य है ।

ब्रह्मचर्याणुव्रत—पगयी स्त्री का माता, वहिन आर पुत्री के समान मानना ओर अपनी धर्मपत्नी में सतुष्ट रहना ब्रह्मचर्य अणुव्रत है ।

ब्रह्मचर्य-प्रतिमा—रात्रि-भुवि-त्याग नामक छठवीं प्रतिमा धारण करने के उपरगत जीवन-पर्यन्त के लिए अपनी धर्मपत्नी में भी कामसेवन नहीं करने की प्रतिज्ञा लेना यह श्रावक की सातवीं ब्रह्मचर्य-प्रतिमा है ।

ब्रह्मर्षि—जो माघु बुद्धि-ऋद्धि आर ओषध-ऋद्धि से युक्त होते हैं वे ब्रह्मर्षि कहलाते हैं ।

ब्राह्मी—ये तीर्थंकर ऋषभदेव आर गनी यज्ञस्वती की पुत्री थीं । ये शील ओर विनय में युक्त थीं । इन्होंने अपने पिता में सर्वप्रथम लिपि-विद्या सीखी । आज अत्यंत प्राचीन ब्राह्मी लिपि इन्हीं के नाम से प्रचलित है । अल्प वय में ही भगवान् ऋषभदेव से दीक्षा लेकर आर्यिकाओं में श्रेष्ठ पद पाया ।

भ

भक्त-प्रत्याख्यान—शास्त्र में कही गई विधि के अनुरूप क्रमशः आहार का त्याग करके स्वतः और दूसरे के द्वारा भी शरीर की यथायोग्य सेवा-वैय्यावृत्ति कराते हुए जो समाधि-मरण किया जाता है वह भक्त-प्रत्याख्यान नामक सल्लेखना कहलाती है।

भक्ति—अर्हन्त आदि के गुणों में अनुराग रखना भक्ति है।

भद्र—मिथ्यात्व के मद उदय में जो जीव समीचीन जिनधर्म से द्वेष नहीं करता उसे भद्र कहते हैं।

भद्रा-वाचना—तर्कसंगत समाधान देते हुए जिनागम में कहे गए जीवादि तत्त्व की व्याख्या करना भद्रा-वाचना है।

भय—जिस कर्म के उदय से जीव भय का कारण मिलते ही भयभीत हो जाता है वह भय नामक नो-कषाय है। भय सात प्रकार का है—इहलोक, परलोक, अत्राण, अगुप्ति, मरण, वेदना और आकस्मिक-भय।

भय-संज्ञा—अत्यंत भय से उत्पन्न जो भागकर कहीं छिप जाने की इच्छा है उसे भय-संज्ञा कहते हैं।

भरत—ये प्रथम चक्रवर्ती थे। अयोध्या के राजा तीर्थंकर ऋषभदेव इनके पिता और रानी यशस्वती इनकी माता थी। इन्होंने छहो खण्ड पृथ्वी पर विजय प्राप्त की परन्तु अपने ही भाई बाहुवली से युद्ध में हार गये थे। इनके साम्राज्य में ही सर्वप्रथम म्वयवर प्रथा का शुभारंभ

ह आया। इनके ही नाम पर हम देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। विष्कान
तक राज्य करने के उपरान्त इन्होंने जिनदीक्षा में ली और अन्नमुहने
में केवलज्ञान प्राप्त किया। उन्होंने आयु योगमी नारा वर्ष पूर्व दी।
इन्होंने मैनाग पर्वत पर योगीम जिनानया का निमाण कराया और
पाच मां यन्त्र ऊर्ध्व तीर्थरूपभूतेश्वरी की प्रतिमा स्थापित करवाई।

भरत-भेन-यह क्षेत्र गण्डा में विभाजित है। इसमें पाच मन्त्रलुण्ड
और एक आयुलुण्ड है। सभी जन्तुओं का पुरुष भरत-भेन के आर्यलुण्ड
में उत्पन्न होते हैं। भरत चक्रवर्ती के नाम से इसका भरत-क्षेत्र नाम
प्रसिद्ध हुआ है। अटार्ड द्वीप में पाच भरत-भेन हैं।

भव-आयु हमें क उदय में जीव की जा मनुष्य, देव आदि पर्याय
होती है उस भव कहते हैं। मनुष्य, निर्वच, नरक और देव—ये चार
भव हैं।

भवनत्रिक-भवनशामी, अन्तर और ज्यानिर्षा देव—ये तीनों भवनत्रिक
कहलाते हैं।

भवनवासी-जिसका स्वभाव भवनों में निवास करने का है वे
भवनवासी देव कहलाते हैं। भवनवासी देव दस प्रकार के
हैं—असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार,
वानकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार।

भव-परिवर्तन-समागे जीव न नरक की छोटी से छोटी आयु से लेकर
शुद्धयुक्त विमान तक आयुक्रम से अनन्त बार भ्रमण किया है। नरक
गति में जगन्म आयु दस हजार वर्ष है। इस दस हजार वर्ष की आयु
में नाथ कांड जीव प्रथम नरक में उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण करके

मर गया, पुन उसी आयु को लेकर वहा उत्पन्न हुआ और मर गया । इस प्रकार दस हजार वर्ष के जितने समय है उतनी बार दस हजार वर्ष की आयु लेकर प्रथम नरक मे उत्पन्न हुआ फिर एक समय अधिक दस हजार वर्ष की आयु लेकर वहीं उत्पन्न हुआ फिर दो समय अधिक दस हजार वर्ष की आयु लेकर उत्पन्न हुआ । इस प्रकार एक-एक समय बढ़ाते-बढ़ाते नरक गति की उत्कृष्ट आयु तेतीस सागर पूर्ण करता है । फिर तिर्यच-गति मे अन्तर्मुहूर्त की जघन्य आयु लेकर उत्पन्न हुआ और पहले की तरह अन्तर्मुहूर्त के जितने समय है उतनी बार अन्तर्मुहूर्त की आयु लेकर वहा उत्पन्न हुआ । फिर एक-एक समय बढ़ाते-बढ़ाते तिर्यच गति की उत्कृष्ट आयु तीन पल्य पूरी करता है । फिर मनुष्य गति मे उत्पन्न होकर तिर्यच गति के समान अन्तर्मुहूर्त की जघन्य आयु से लेकर तीन पल्य की उत्कृष्ट आयु क्रमश बढ़ाते-बढ़ाते पूरी करता है । फिर देवगति मे उत्पन्न होकर नरकगति के समान आयु को क्रमश पूर्ण करता है । देवगति मे इतनी विशेषता है कि वहा तेतीस सागर न होकर इकतीस सागर की आयु क्रमश पूर्ण करता है क्योंकि मिथ्यादृष्टि की उत्पत्ति ग्रैवेयक तक ही होती है जहा उत्कृष्ट आयु इकतीस सागर है । इस प्रकार चारो गतियों की आयु को क्रम से प्राप्त करके पूर्ण करना यह भव-परिवर्तन है ।

भवप्रत्यय-अवधिज्ञान—जिस अवधिज्ञान के होने मे मुख्य रूप से भव ही निमित्त है वह भवप्रत्यय-अवधिज्ञान है । यह अवधिज्ञान देव व नारकी जीवो को जन्म से ही होता है ।

भवविपाकी कर्म—जिन कर्मों का विपाक या फल मनुष्य आदि भव के रूप मे होता है वे भव-विपाकी कर्म कहलाते है । नरकायु, तिर्यचायु,

मनुष्यायु और दवायु—य चारा आयु-कर्म भवविपाकी हे ।

भव्य—जिसके सम्यग्दर्शन आदि भाव प्रकट हान की योग्यता हे वह भव्य हे । भव्य जीव तीन प्रकार के हे—आसन्न भव्य, दूर भव्य और अभव्यसम भव्य । जो अल्पकाल मे मुक्त होंगे, वे आसन्न-भव्य हे । जो बहुत काल मे मुक्त होंगे, वे दूर-भव्य हे । मुक्त होने की योग्यता होने पर भी जो कभी मुक्त नहीं होंगे, वे दूरान्दूर-भव्य या अभव्यसम-भव्य हे ।

भाव—1 जीव के परिणाम को भाव कहते हे । ओपशमिक, क्षायिक, मिश्र, ओदयिक और पारिणामिक—ये पाच भाव जीव के हे । 2 जो ओपशमिक आदि भावों के द्वारा जीवादि का विशेष ज्ञान किया जाता हे वह भाव-अनुयोग-द्वार हे ।

भाव-कर्म—जीव के क्रोध आदि विकारी परिणाम भाव-कर्म कहलाते हे ।

भाव-निक्षेप—वर्तमान पर्याय से युक्त द्रव्य को भाव-निक्षेप कहते हैं । द्रव्य का वर्तमान पर्याय की अपेक्षा व्यवहार करना भाव-निक्षेप हे । जैसे—पूजा करते हुए को पुजारी कहना या सेवा करने वाले को सेवक कहना ।

भाव-परिवर्तन—योग-स्थान, अनुभाग-स्थान, कषाय-स्थान ओर स्थिति-स्थान इन चार के निमित्त से भाव-परिवर्तन होता हे । प्रकृति ओर पदेश-वध के कारणभूत आत्मा के प्रदेश परिस्पदन रूप योगस्थान होते हे । अनुभाग-वध मे कारणभूत कषाय की तरलमता (उत्तार चढाव) रूप अनुभाग-स्थान होते हे तथा स्थितिवध मे कारणभूत

कषाय की तरतमता को कषाय-स्थान कहते हैं। वधने वाले कर्म की स्थिति के भेदों को स्थिति-स्थान कहा गया है। योगस्थान श्रेणी के असख्यातवे भाग प्रमाण है। अनुभाग स्थान असख्यात लोक प्रमाण है और कषाय स्थान भी असख्यात लोकप्रमाण है। कोई मिथ्यादृष्टि, सझी, पचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव ज्ञानावरणीय कर्म की अन्त कोडा-कोडी सागर प्रमाण जघन्य स्थिति को बाधता है। तब उस जीव के उस स्थिति के योग्य जघन्य कषाय-स्थान, जघन्य अनुभाग स्थान और जघन्य योगस्थान होता है। फिर स्थिति, अनुभाग और कषाय-स्थान वही रहते हैं किन्तु योगस्थान दूसरा हो जाता है। इसी प्रकार तीसरे, चौथे आदि योगस्थान होते हैं। जब सब योगस्थान पूर्ण हो जाते हैं तब उसी स्थिति ओर उसी कषाय-स्थान को धारण करने वाले जीव के दूसरा अनुभाग-स्थान होता है। इसमें योगस्थान पूर्ववत् होते हैं। इस प्रकार असख्यात लोक प्रमाण अनुभाग स्थानों के होने तक तीसरे चौथे आदि अनुभाग स्थान क्रमशः होते हैं। तात्पर्य यह है कि यहा स्थिति ओर कषाय स्थान तो जघन्य ही रहते हैं किन्तु अनुभाग स्थान क्रम से असख्यात लोक प्रमाण हो जाते हैं और एक-एक अनुभाग-स्थान के प्रति श्रेणी के असख्यातवे भाग प्रमाण योगस्थान होते हैं। इसके बाद उसी स्थिति को प्राप्त होने वाले जीव के दूसरा कषाय स्थान होता है। इसके अनुभाग-स्थान और योगस्थान पूर्ववत् रहते हैं। इस प्रकार असख्यात लोक प्रमाण कषाय स्थानों के होने तक तीसरे चौथे आदि कषाय स्थान जानना चाहिए। जिस प्रकार सबसे जघन्य स्थिति के कषाय आदि स्थान कहे हैं, उसी प्रकार एक समय अधिक जघन्य स्थिति के भी कषाय आदि स्थान जानना चाहिए ओर इसी प्रकार एक एक समय अधिक के क्रम से तीस

कोडा-कोडी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति तक प्रत्येक स्थिति के भी कषाय आदि स्थान जानना चाहिए। इस प्रकार सभी मूल और उत्तर प्रकृतियों के परिवर्तन का क्रम जानना चाहिए। यह सब मिलकर एक भाव-परिवर्तन होता है। आशय यह है कि इस जीव ने मिथ्यात्व के वशीभूत होकर प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश-वध के कारणभूत जितने प्रकार के परिणाम या भाव है उन सबका अनुभव करते हुए भाव-परिवर्तन रूप ससार में अनेक बार भ्रमण किया है।

भाव-पूजा—अर्हन्तादि के गुणों का चिन्तन करना भाव-पूजा है।

भावलिङ्ग—देखिए लिङ्ग।

भाव-श्रुत—देखिए श्रुतज्ञान।

भाव-सत्य—हिंसा आदि दोष रहित अयोग्य वचन भी भाव-सत्य है। जैसे—किसी ने पूछा कि 'चोर देखा' तो देखने के उपरांत भी कह देना कि 'नहीं देखा'।

भाव-सामायिक—सब जीवों के प्रति मैत्री-भाव रखना और अशुभ-भावों का त्याग करना भाव-सामायिक है।

भाव-स्तव—जिनेन्द्र भगवान के गुणों का स्मरण करना भाव-स्तव है।

भावानुराग—धर्मात्मा और धर्म का सम्मान/गौरव कम न हो ऐसी भावना होना भावानुराग कहलाता है।

भावेन्द्रिय—जो लब्धि और उपयोग रूप है वह भावेन्द्रिय है। जिसके ससर्ग से आत्मा द्रव्येन्द्रिय की रचना करने के लिए तत्पर होता है ऐसे ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम को लब्धि कहते हैं तथा लब्धि

के अवलम्बन से उत्पन्न होने वाले आत्मा के परिणाम को उपयोग कहते हैं।

भाषा-समिति—हित, मित और प्रिय वचन बोलना भाषा-समिति है। यह साधु का एक मूलगुण है।

भूमि-स्पर्श—यदि आहार के समय साधु के हाथ से भूमि का स्पर्श हो जाए तो यह भूमि-स्पर्श नाम का अन्तराय है।

भेदविज्ञान—शरीर आदि 'पर' द्रव्यो से आत्मा भिन्न है—ऐसा अनुभव या ज्ञान होना भेद-विज्ञान है।

भोग—जो वस्तु एक ही बार भोगने में आती है उसे भोग कहते हैं। जैसे अन्न, पान, गन्ध, माला आदि।

भोग-भूमि—जहाँ कृषि आदि कार्य किये बिना दस प्रकार के कल्पवृक्षों से प्राप्त भोग-उपभोग की सामग्री के द्वारा मनुष्यों की उपजीविका चलती है उसे भोगभूमि कहते हैं। भोगभूमि में नगर, कुल, वर्णाश्रम आदि की पद्धति नहीं होती। यहाँ युगल सत्तान उत्पन्न होती है जो पति-पत्नी के रूप में सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करती है। यहाँ उत्पन्न होने वाले मनुष्य और तिर्य्यच सुखी, निरोगी और मृदु स्वभावी होते हैं और मरणोपरान्त स्वर्ग जाते हैं।

भोगान्तराय—जिस कर्म के उदय से जीव भोगने की इच्छा करता हुआ भी नहीं भोग पाता उसे भोगान्तराय कर्म कहते हैं।

भोगोपभोग-परिमाण—प्रतिदिन भोजन, वस्त्र आदि भोग-उपभोग की सामग्री का परिमाण करके शेष का त्याग कर देना भोगोपभोग-परिमाण व्रत कहलाता है।

भोजन-सपात—साधु को आहार देते समय दाता के हाथ से यदि आहार सामग्री नीचे गिर जाए तो यह भोजन-सताप नाम का अतराय है।

भौम-निमित्त—पृथिवी की सघनता, स्निग्धता आदि गुणों का विचार करके जो तावा, सोना, चादी आदि धातुओं की हानि-वृद्धि का ज्ञान होता है वह भौम-निमित्त-ज्ञान कहलाता है।

भ्रमराहार—जिस प्रकार भोरा, फूलों को बाधा पहुँचाए बिना रस ग्रहण करता है उसी प्रकार साधु, दाता को बाधा पहुँचाए बिना उसके द्वारा दिया गया आहार ग्रहण करते हैं, इसलिए साधु की यह आहार-चर्या भ्रमराहार या भ्रामरीवृत्ति कहलाती है।

म

मङ्गल—जो पापरूपी मल को गलाता है अथवा जो सुख या पुण्य को लाने वाला है वह मङ्गल कहलाता है। अर्हन्त आदि का गुणगान करना पारलौकिक मङ्गल है। पीली सरसो, पूर्णकलश आदि लौकिक मङ्गल है। कार्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिए, इच्छित फल की प्राप्ति के लिए, शिष्टाचार के पालन के लिए और पुण्य-वर्धन के लिए ग्रथ के प्रारम्भ में मङ्गल करने का विधान है। ग्रथ के प्रारम्भ में मङ्गल दो प्रकार से किया जाता है—निवद्ध मङ्गल और अनिवद्ध मङ्गल।

भज्जानुराग—साधर्मी जनो के प्रति ऐसा सुदृढ अनुराग होना जो विपत्ति या विषम परिस्थिति आने पर भी परस्पर अस्थि व भज्जा के समान न छूटे अर्थात् बना रहे, इसे भज्जानुराग कहते हैं।

मतिज्ञान—इन्द्रिय व मन की सहायता से होने वाला ज्ञान मतिज्ञान है। अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा—मतिज्ञान के भेद हैं और मति, स्मृति, सज्ञा, चिता, अभिनिबोध, प्रतिभा, बुद्धि, मेधा आदि इसके अपर नाम हैं।

मद—ज्ञान आदि के आश्रय से अपना बड़प्पन जताना मद कहलाता है। यह आठ प्रकार का है—ज्ञान-मद, पूजा-मद, कुल-मद, जाति-मद, बल-मद, रूप-मद, तप-मद और ऋद्धि-मद।

मधुसावी ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु के हाथ में दिया गया रुखा-सूखा आहार भी मीठे स्वाद वाला हो जाता है उस मधुसावी-ऋद्धि कहते हैं।

मध्य-लोक—समूचा लोक तीन भागों में विभक्त है। इसके मध्य-भाग को मध्य-लोक कहते हैं। मध्य-लोक एक राजू चौड़ा और एक लाख योजन ऊँचा है। यह चूड़ी के आकार का है। इसमें अनगिनत द्वीप और समुद्र है जो परस्पर एक दूसरे से घिरे हुए हैं। मध्यलोक के बीचों-बीच एक लाख योजन अर्थात् चालीस करोड़ मील व्यास वाला प्रथम जम्बूद्वीप स्थित है। जम्बूद्वीप को घेरे हुए दो लाख योजन विस्तार वाला लवण समुद्र है। फिर घातकीखण्ड द्वीप, कालोदधि समुद्र, पुष्करवर द्वीप और अंत में स्वयम्भूरमण द्वीप और स्वयम्भूरमण समुद्र है। मनुष्य और तिर्यच जीव इस मध्यलोक में ही पाए जाते हैं।

मन—नाना प्रकार के विकल्प-जाल को मन कहते हैं। अथवा गुण दोष का विचार व स्मरण आदि करना, यह मन का कार्य है। मन को अनिन्द्रिय या अन्तःकरण भी कहते हैं। मन दो प्रकार का है—द्रव्य-मन और भाव-मन। हृदय में आठ पाखुरी वाले कमल के आकार की पुद्गल संरचना रूप द्रव्य-मन है तथा जिसके द्वारा स्मृति, शिक्षा, आलाप आदि का ग्रहण होता है वह भाव-मन है।

मन-शुद्धि—आहारदान देते समय ईर्ष्या, क्रोध आदि अशुभ-भावों से दूर रहना और श्रद्धा, विनय आदि शुभ-भाव रखना यह दाता की मन-शुद्धि है।

मनःपर्यय—जो दूसरे के मन का आलम्बन लेकर उस मन में स्थित पदार्थ को स्पष्ट रूप से जान लेता है वह मनःपर्यय ज्ञान कहलाता है। मनःपर्यय ज्ञान ऋद्धिधारी मुनि को ही होता है। यह दो प्रकार का है—ऋजुमति और विपुलमति।

मनोगुप्ति—राग-द्वेष-मोह आदि अशुभ-भावो का परिहार करना मनोगुप्ति है।

मनोज्ञ—1 अभिरूप को मनोज्ञ कहते हैं। 2 लोक-सम्मत साधु को मनोज्ञ कहते हैं। 3 विद्वान्, वाग्मी, महाकुलीन आदिरूप से जो लोकप्रसिद्ध है उसे मनोज्ञ कहते हैं। 4 सस्कारवान् सम्यग्दृष्टि को मनोज्ञ कहते हैं।

मनोबल-ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु अन्तर्मुहूर्त में समस्त श्रुत का चिन्तन करने में समर्थ होता है उसे मनोबल-ऋद्धि कहते हैं।

मन्त्र—1 जिसके द्वारा आत्मा का आदेश अर्थात् निजानुभव किया जाए वह मन्त्र है। 2 जिसके द्वारा परमपद में स्थित आत्माओं का सत्कार किया जाए वह मन्त्र है। 3 जो गुप्त रूप से बोले जाते हैं उन्हें मन्त्र कहते हैं।

मन्त्रोत्पादन-दोष—दाता को मन्त्र की महिमा बताकर और मन्त्र देने की आशा दिलाकर यदि साधु आहार प्राप्त करे तो यह मन्त्रोत्पादन-दोष है।

ममकार—आत्मा से भिन्न शरीर आदि में मेरेपन का भाव या ममत्व भाव होना ममकार है।

मरण—प्राणों का वियोग होना मरण कहलाता है। जीव का मरण अनेक प्रकार से होता है। जीव के आयु आदि प्राणों का जो निरन्तर क्षय होता रहता है वह नित्य-मरण या आवीचि-मरण है। विष आदि के निमित्त से अकाल में होने वाले मरण को अपवर्त्यायु-मरण या कदलीघात-मरण कहते हैं। पूर्ण आयु भोगकर होने वाला मरण

अनपवर्त्यायु-मरण कहलाता है। मरण के मुख्य पाच भेद और भी हैं—पण्डित-पण्डित-मरण, पण्डित-मरण, बाल-पण्डित-मरण, बाल-मरण और बाल-बाल-मरण।

मरण-भय—‘मैं जीवित रहूँ, कभी मेरा मरण न हों’, इस प्रकार मरण के विषय में जो भय होता है वह मरण-भय है।

मल-परीषह-जय—जीवन पर्यन्त स्नान न करने की प्रतिज्ञा करने वाले निर्गन्ध साधु के शरीर पर पसीना और धूलि के कारण स्वाभाविक रूप से जो मैल जमा हो जाता है उस संचित मैल से उत्पन्न होने वाली बाधा को समता-भाव से सहन करना मल-परीषह-जय है।

मल-दोष—शका काक्षा आदि दोषों से क्षयोपशम-सम्यग्दर्शन मलिन हो जाता है यह सम्यग्दर्शन का मल-दाष कहलाता है।

मलोषधि-ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु के जिह्वा, ओठ, नाक, आदि का मल जीवो के रोग दूर करने में समर्थ होता है वह मलोषधि-ऋद्धि है।

मल्लिनाथ—उन्नीसवें तीर्थंकर। ये इक्ष्वाकुवंशी राजा कुम्भ की रानी प्रजावती के पुत्र थे। इनकी आयु पचपन हजार वर्ष और शरीर पच्चीस धनुष ऊँचा था। देह की कान्ति स्वर्ण के समान थी। अपने विवाह के लिए सजाए गये नगर को देखकर इन्हें अपने पूर्व भव का स्मरण हो गया और इन्होंने विरक्त होकर जिनदीक्षा ले ली। छ दिन की तपस्या के उपरांत इन्हें केवलज्ञान हुआ। इनके सघ में अट्ठाईस गणधर, चालीस हजार मुनिराज, पचपन हजार आर्यिकाएँ, एक लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाएँ थीं। सम्मेलनशिखर से इन्होंने मोक्ष

प्राप्त किया।

महाकल्प—काल और सहनन की अपेक्षा साधु के योग्य द्रव्य, क्षेत्र आदि का वर्णन करने वाला महाकल्प या महाकल्प्य नाम का अङ्गबाह्य है।

महापुण्डरीक—जिसमें समस्त इन्द्र और प्रतीन्द्रो में उत्पन्न होने में कारणभूत तपश्चरण आदि का वर्णन किया गया हो वह महापुण्डरीक नाम का अङ्गबाह्य है।

महापुरुष—1 जो पीडित किए जाने पर भी कठोर वचन या अपशब्द नहीं बोलते वह महापुरुष है। 2 जैनागम में चौबीस तीर्थकर, नौ प्रतिनारायण, नौ वलभद्र, वारह चक्रवर्ती, चौबीस कामदेव, चौदह कुलकर, ग्यारह रुद्र, नौ नारद और तीर्थकर के माता-पिता—ये एक सौ उन्हत्तर महापुरुष कहे गए हैं।

महावीर-स्वामी—अंतिम चौबीसवें तीर्थकर। ये वैशाली के राजा सिद्धार्थ की रानी प्रियकारिणी (त्रिशला) के पुत्र थे। इनकी आयु बहत्तर वर्ष की थी और शरीर सात हाथ ऊंचा था। निरंतर बढ़ने वाले गुणों के कारण ये वर्धमान कहलाते थे। सगम देव ने जब इन पर उपसर्ग किया तब इनकी निर्भयता देखकर इन्हें महावीर कहा। तीव्र तपश्चरण करने से ये लोक में अतिवीर कहलाये। सजय-विजय नाम के ऋद्धिधारी मुनियों को इनके दर्शन से समाधान मिला इसलिए इन्हें सन्मति नाम दिया गया। शरीर का अनन्त बल देखकर इन्हें 'वीर' कहा गया। तीस वर्ष की अवस्था में इन्होंने जिनदीक्षा ग्रहण की। वारह वर्ष की तपस्या के उपरांत इन्हें केवलज्ञान हुआ। गणधर

के अभाव में छयासठ दिन तक इनकी दिव्यध्वनि नहीं हुई। इन्द्रभूति गौतम के आने पर और शिष्यत्व स्वीकार करने पर दिव्यध्वनि प्रारम्भ हुई। इनके सघ में इन्द्रभूति गौतम आदि ग्यारह गणधर, चौदह हजार मुनि, छत्तीस हजार आर्यिकाएँ, एक लाख श्रावक व तीन लाख श्राविकाएँ थीं। इन्होंने पावापुर से मोक्ष प्राप्त किया।

महाव्रत—हिसादि पाच पापो का मन, वचन, काय से जीवन-पर्यंत के लिए त्याग करना महाव्रत है। अहिंसा, सत्य, अचोर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाच महाव्रत हैं।

महिमा-ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु अपने शरीर को मेरुपर्वत के बराबर बनाने में समर्थ होते हैं वह महिमा-ऋद्धि है।

मासादि-दर्शन—आहार के समय यदि साधु को मासादि दिख जाए तो यह मासादि-दर्शन नाम का अतराय है।

माध्यस्थ्य-भाव—रागद्वेषपूर्वक पक्षपात नहीं करना माध्यस्थ्य-भाव है। माध्यस्थ्य, समता, उपेक्षा, वैराग्य, साम्य, वीतरागता ये सभी एकार्थवाची शब्द हैं।

मान—1 दूसरे के प्रति नमने की वृत्ति न होना मान है। अथवा दूसरे के प्रति तिरस्कार रूप भाव होना मान कहलाता है। 2 मान का अर्थ तौल या माप भी है।

मानदोष—साधु यदि अभिमान प्रगट करके आहार लेता है तो यह मान नामक दोष है।

मानस-आहार—देवा को आहार की इच्छा हात ही कण्ठ में अमृत झरने लगता है। यह मानस-आहार कहलाता है।

मानसिक-विनय—धर्म-कार्य में मन लगाना तथा पाप कार्य का विचार से मन को बचाना मानसिक-विनय है। अथवा पूज्य पुरुषों के प्रति आदर-भाव रखना मानसिक-विनय है।

मानस्तम्भ—तीर्थकरों के समवसरण में प्रवेश करने से पहले प्रत्येक दिशा में जो तीर्थकर के शरीर की ऊंचाई से बारह गुनी ऊँची स्तम्भ के आकार की सुंदर रचना होती है उसे मानस्तम्भ कहते हैं। चूंकि दूर से ही इसके दर्शन मात्र से मिथ्यादृष्टि जीव अभिमान से रहित हो जाते हैं अतः इसका मानस्तम्भ नाम सार्थक है। सभी मानस्तम्भ मूल में बज्रदागरे में युक्त होते हैं, मध्य-भाग में वृत्ताकार होते हैं और ऊपर चारों दिशाओं में चमर, घण्टा आदि से विभूषित एक-एक जिन-प्रतिमा से युक्त होते हैं। अकृत्रिम चेत्यालयों में भी इसी तरह मानस्तम्भ की रचना होती है।

मानुषोत्तर पर्वत—मध्यलोक में पुष्करवर द्वीप के बीचोंबीच चूड़ी के समान गोल आकार वाला मानुषोत्तर पर्वत है। यह अनादि-अनिधन है। इस पर्वत के बाहर मनुष्यों का गमन नहीं होता।

माया—माया का अर्थ छल, कपट या कुटिलता है। दूसरे का ठगने के लिए जो छल, कपट आदि किए जाते हैं वह माया है।

माया-क्रिया—ज्ञान-दर्शन आदि के विषय में छल करना माया-क्रिया है।

माया-दोष—साधु यदि छलपूर्वक आहार ले तो यह माया नाम का दोष है ।

मायागता-चूलिका—जिसमें इन्द्रजाल आदि के कारणभूत मत्र और तपश्चरण का वर्णन किया गया है वह मायागता-चूलिका है ।

माया-शल्य—यदि जीव बाह्य में बगुले जैसा उज्ज्वल वेष धारण करके अतरंग में दूषित भाव रखता है तो यह माया-शल्य कहलाती है ।

मारणान्तिक-समुद्घात—मरण के समय अपने वर्तमान शरीर को न छोड़कर आगे जहा उत्पन्न होना है उस क्षेत्र तक आत्मा के प्रदेशों का फैलना मारणान्तिक-समुद्घात है ।

मारुत-चारण ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु अनेक प्रकार की गतिवाली वायु की प्रदेश पंक्ति पर पैर रखते हुए निर्वाध रूप से गमन करने में समर्थ होते हैं वह मारुत-चारण ऋद्धि कहलाती है ।

मारुती-धारणा—आग्नेयी-धारणा के उपरांत वह योगी आकाश में पूर्ण होकर विचरण करते हुए महावेगवान वायुमंडल का चिन्तन करे । इस प्रवल वायुमंडल ने अग्नि में जले शरीर आदि की भस्म को उड़ा दिया है और फिर वायु शांत हो गई है—ऐसा चिन्तन करे, यह मारुती-धारणा है ।

मार्गणा—मार्गणा का अर्थ खोजना या अन्वेषण करना है । जीव जिन भावों के द्वारा खोजे जाते हैं या जिन पर्यायों में खोजे जाते हैं उसे मार्गणा कहते हैं । गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, सयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, सङ्गी और आहारक—ये चौदह मार्गणाएँ

हे ।

मार्ग-प्रभावना—ज्ञान, ध्यान, तप और जिनपूजा आदि के माध्यम से जिनेन्द्र भगवान के द्वारा बताए गए मोक्षमार्ग को प्रकाशित करना मार्ग-प्रभावना है । यह सोलह कारण भावना में एक भावना है ।

मार्ग-सम्यग्दर्शन—वीतराग-मोक्षमार्ग के सुनने मात्र से जो सम्यग्दर्शन होता है वह मार्ग-सम्यग्दर्शन है ।

मार्दव—मृदुता का भाव होना मार्दव है । अथवा मान के अभाव का नाम मार्दव है । अथवा अपने कुल, रूप, जाति, बुद्धि, तप आदि का अभिमान नहीं करना मार्दव-धर्म है ।

मालारोहण—लकड़ी की बनी हुई सीढ़ी या पैड़ी से ऊपर चढ़कर वहाँ रखे हुए लड्डू आदि लाकर साधु को आहार में देना मालारोहण नाम का दोष है ।

मित्र—जो निस्वार्थ भाव से हित करे वह मित्र है अथवा जो पाप से बचाए वह मित्र है ।

मिथ्या-एकान्त—अनेक धर्मात्मिक वस्तु के किसी एक ही धर्म का कथन करके शेष सभी धर्मों का निषेध कर देना मिथ्या-एकान्त है ।

मिथ्याचारित्र—अर्हन्त भगवान के द्वारा बताए गए वीतराग मोक्षमार्ग से विपरीत मार्ग पर चलना मिथ्याचारित्र है ।

मिथ्याज्ञान—मिथ्यात्व के सद्भाव में होने वाला ज्ञान, मिथ्याज्ञान कहलाता है । जिस प्रकार कड़वी तूमड़ी में रखा हुआ दूध कड़वा हो जाता है उसी प्रकार मिथ्यादर्शन के निमित्त से मतिज्ञान आदि मिथ्या

जैनदर्शन पारिभाषिक कोश /

हा जाते हैं। कुमति, कुश्रुत आर विभग-अवधिज्ञान ये तीनों मिथ्याज्ञान हैं।

मिथ्यात्व-क्रिया-मिथ्यात्व के उदय में जो राग-द्वेष से मलिन देवी-देवताओं की स्तुति रूप क्रिया होती है वह मिथ्यात्व-क्रिया है।

मिथ्यादर्शन-मिथ्यात्व-कर्म के उदय से जो समीचीन तत्त्वों के विषय में अश्रद्धान होता है वह मिथ्यादर्शन है। अथवा अर्हन्त भगवान के द्वारा बताए गए मार्ग से विपरीत मार्ग में श्रद्धान होना मिथ्यादर्शन है।

मिथ्यादर्शन-क्रिया-मिथ्यादर्शन के साधनों से युक्त पुरुष की प्रशंसा आदि करके उसे मिथ्यात्व में दृढ करना मिथ्यादर्शन-क्रिया है।

मिथ्यादृष्टि-मिथ्यात्व-कर्म के उदय से वशीकृत जीव मिथ्यादृष्टि कहलाता है। अथवा जो दोषयुक्त देव को, हिंसा से युक्त धर्म को ओर परिग्रह में लिप्त गुरु को मानता है ओर आदर-सत्कार करता है वह मिथ्यादृष्टि है। अथवा जो निष्परिग्रह यथाज्ञात निर्ग्रन्थ रूप का देख कर मात्सर्य करता है वह मिथ्यादृष्टि है।

मिथ्याशल्य-मिथ्यात्व में रुचि रखते हुए व्रतों का पालन करना मिथ्याशल्य है।

मिश्रगुणस्थान-दही ओर गुड़ के मिश्रित स्वाद के समान सम्यक्त्व ओर मिथ्यात्व से मिश्रित-भाव को सम्यग्मिथ्यात्व कहते हैं। सम्यग्मिथ्यात्व के उदय से जीव का तत्त्व के विषय में श्रद्धान और अश्रद्धान-भाव युगपत् होता है इसलिए इसे मिश्रभाव या मिश्र गुणस्थान भी कहते हैं।

मिश्रदोष—प्रासुक तैयार हुआ आहार अन्य वेपधारियों तथा गृहस्थों के साथ-साथ सयमी साधुओं को भी देने का सकल्प करना मिश्रदोष है।

मुनि—मनन मात्र भाव-स्वरूप होने से साधु को मुनि कहते हैं। अथवा अवधिज्ञानी, मन पर्ययज्ञानी और केवलज्ञानियों को मुनि कहा है। श्रमण, सयत, ऋषि, मुनि, यति, साधु, वीतराग, अनगार ये सभी एकार्थवाची शब्द हैं।

मुनिसुव्रतनाथ—बीसवे तीर्थकर। मगध देश के राजगृह नगर में राजा सुमित्र और माता सोमा के यहाँ इनका जन्म हुआ। इनकी आयु तीस हजार वर्ष थी और शरीर बीस धनुष ऊँचा मयूरकठ के समान नीली आभा वाला था। पंद्रह हजार वर्ष तक राज्य करने के उपरांत यागहस्ती नामक हाथी को देशव्रतो का पालन करते देखकर इन्हें वेराग्य हो गया और गृहत्याग कर जिनदीक्षा ले ली। ग्यारह माह की तपस्या के उपरांत इन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ। इनके सध में अठारह गणधर, तीस हजार मुनि, पचास हजार आर्यिकाएँ, एक लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाएँ थीं। इन्होंने सम्मेदशिखर से मोक्ष प्राप्त किया।

मुमुक्षु—मोक्ष की इच्छा रखने वाले भव्य जीवों को मुमुक्षु कहते हैं। यह तीन प्रकार के होते हैं—परोपकार को प्रधानता देकर अपना उपकार करने वाले, अपने उपकार की प्रधानता से परोपकार करने वाले और मात्र अपना उपकार करने वाले।

मुहूर्त—दो घड़ी अर्थात् अड़तालीस मिनट का एक मुहूर्त होता है।

मूक-केवली—केवलज्ञान के उपरांत जिनकी दिव्यध्वनि नहीं होती वे

मूक-केवली कहलाते हैं ।

मूढता—मूढता का अर्थ अविवेक है । यह तीन प्रकार की होती है—लोक-मूढता, देव-मूढता और गुरु-मूढता या समय-मूढता ।

मूर्च्छा—लोक में मूर्च्छा का प्रचलित अर्थ बेहोशी है । जैनागम में मूर्च्छा का अर्थ परिग्रह या ममत्व-भाव है ।

मूर्त—जो पदार्थ इन्द्रिय ग्राह्य है वे मूर्त हैं । अथवा जिसमें रूप रस आदि गुण पाए जाते हैं वह मूर्त है । छह द्रव्यों में एकमात्र पुद्गल-द्रव्य मूर्त या रूपी है ।

मूलकर्म-दोष—जो वश में नहीं है उनको कैसे वश में करना, अथवा जो स्त्री-पुरुष अलग-अलग हो गए हैं उनका कैसे संयोग कराना—ऐसे मन्त्र-तन्त्र आदि उपाय बताकर यदि साधु गृहस्थ से आहार प्राप्त करे तो यह मूल-कर्म-दोष है ।

मूल-प्रायश्चित्त—साधु को पुनः दीक्षा देना मूल-प्रायश्चित्त कहलाता है । अपरिमित दोष करने वाला जो साधु पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील या स्वच्छन्द होकर कुमार्ग में स्थित है उसे यह प्रायश्चित्त दिया जाता है ।

मृगचारी—जो साधु अकेले ही स्वच्छन्द रीति से विहार आदि करते हैं और जिनेन्द्र भगवान् के वचनों को दूषित करते हैं उनको मृगचारी या स्वच्छन्द कहा गया है ।

मृषानन्दी—तीव्र कषाय के वशीभूत होकर दूसरे को ठगने के लिए बड़ी चतुराई से झूठ बोलने की योजना बनाने में लगे रहना और झूठ

बोलने में आनन्द मानना मृषानन्दी नाम का रौद्रध्यान है।

मेघचारण ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु बादलो में स्थित जलकायिक जीवों की विराधना न करते हुए उनके ऊपर से जाने में समर्थ होते हैं, उसे मेघचारण-ऋद्धि कहते हैं।

मैत्री—दूसरे को दुख न हो ऐसी भावना रखना मैत्री है।

मैथुन-संज्ञा—राग के वशीभूत होकर स्त्री और पुरुष में जो परस्पर कामसेवन की इच्छा होती है उसे मैथुन-संज्ञा कहते हैं।

मोक्ष—समस्त कर्मों से रहित आत्मा की परम विशुद्ध अवस्था का नाम मोक्ष है। जब आत्मा कर्म मल कलक और शरीर को अपने से सर्वथा जुदा कर देता है तब उसके जो स्वाभाविक अनन्त ज्ञानादि गुण रूप और अव्याबाध सुख रूप अवस्था उत्पन्न होती है उसे मोक्ष कहते हैं।

मोक्षमार्ग—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—इन तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है। निश्चय और व्यवहार के भेद से मोक्षमार्ग दो प्रकार का है। निश्चय-मोक्षमार्ग निर्विकल्प निजशुद्धात्म तत्त्व के सम्यक् श्रद्धान्, ज्ञान और अनुचरण रूप अभेद रत्नत्रयात्मक है तथा जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे गए सात तत्त्वों के श्रद्धान् व ज्ञान तथा अहिंसा आदि व्रतों के पालन रूप भेदरत्नत्रयात्मक व्यवहार-मोक्षमार्ग है। व्यवहार मोक्षमार्ग को निश्चय-मोक्षमार्ग का साधन माना गया है क्योंकि कोई भी साधक पहले सविकल्प रहकर ही आगे निर्विकल्पता को प्राप्त करता है।

के समय जो विजली की चमक के समान क्षण भर को दिखाई देता है उस साधु के यह याचना-परीषह-जय है।

योग—मन, वचन और काय के द्वारा होने वाले आत्म-प्रदेशो के परिस्पन्दन को योग कहते हैं। अथवा मन, वचन, काय की प्रवृत्ति के लिए जीव का प्रयत्न विशेष ही योग कहलाता है। योग तीन प्रकार का है—मनो-योग, वचन-योग और काय-योग। ये तीनों योग शुभ व अशुभ दोनों रूप होते हैं।

योजन—चार कोस का एक योजन होता है। दो हजार कोस का एक महायोजन होता है। योजन का प्रयोग जीवों के शरीर, नगर, मंदिर आदि को मापने में होता है तथा महायोजन के द्वारा पर्वत, द्वीप, समुद्र आदि को मापते हैं।

योनि—जिसमें जीव जाकर उत्पन्न होता है उसे योनि कहते हैं। सचित्त, अचित्त, शीत, उष्ण, सवृत, विवृत आदि के भेद से योनि अनेक प्रकार की है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जाति के भेद से योनि के चौरासी लाख भेद हैं।

र

रति—जिस कर्म के उदय से जीव इन्द्रिय-विषयो मे आसक्त होकर रमता है उसे रति कहते है। अथवा मनोहर वस्तुओ के प्रति अत्यत प्रीति होना रति है।

रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र—इन तीन गुणो को रत्नत्रय कहते है।

रसना—जिसके द्वारा स्वाद लिया जाता है अथवा जो स्वाद को ग्रहण करती है वह रसना या जिह्वा इन्द्रिय है।

रस-नामकर्म—1 जिस कर्म के उदय से जीवो के शरीर मे खट्टा, मीठा आदि रस उत्पन्न होता है उसे रस-नामकर्म कहते है। तिवक्त, मधुर, कटुक, कसायला और खट्टा—ये पाच रस है। 2 घी, दूध, दही—ये गोरस हैं। गुड, शक्कर आदि इक्षुरस है। द्राक्षा, आम आदि फल-रस है। तेल, माड आदि को धान्य-रस माना गया है।

रस-परित्याग—भोजन मे दूध, दही, घी, तेल, गुड और नमक इन छह रसो का या इनमे से किसी एक-दो रसो का त्याग करना रस-परित्याग नाम का तप है।

राग—इष्ट पदार्थो मे प्रीति या हर्ष रूप परिणाम होना राग है। राग दो प्रकार का है—प्रशस्तराग और अप्रशस्तराग।

राजर्षि—जो साधु विक्रिया-ऋद्धि और अक्षीण-ऋद्धि के धारक होते है वे राजर्षि कहलाते है।

राजसिक-दान—जो दान कवल अपने यश और ख्याति के लिए किया गया हो, जो थोड़े समय के लिए सुंदर और चकित करने वाला हो तथा दूसरे के द्वारा दिलाया गया हो वह राजसिक-दान है।

रात्रि-भुक्ति-त्याग-प्रतिमा—सचित्त-त्याग नामक पाचवीं प्रतिमा धारण करने के उपरांत जीवन पर्यन्त के लिए मन, वचन, काय से रात्रि में अन्न, जल आदि चारों प्रकार के आहार का त्याग कर देना यह श्रावक की रात्रि-भुक्ति-त्याग नामक छठवीं प्रतिमा है।

रुद्र-जिनदीक्षा लेने के उपरांत कर्म के तीव्र उदय से विषय-वासनावश सयम से भ्रष्ट होकर रोद्र-कार्य करने वाले रुद्र कहलाते हैं। ये दसवे विद्यानुप्रवाद नामक पूर्व का अध्ययन करते समय विषयासक्त होकर तप से भ्रष्ट हो जाते हैं और नरकगामी होते हैं। रुद्र ग्यारह हुए हैं।

रुधिर-अन्तराय—आहार करते समय यदि साधु को अपने शरीर से अथवा दूसरे के शरीर से रक्त बहता हुआ दिख जाए तो यह रुधिर नाम का अन्तराय है।

रूपगता—जिसमें सिंह, घोड़ा, हरिण आदि की आकृति धारण करने के कारणभूत मंत्र, तंत्र एवं तपश्चरण का तथा चित्र, काष्ठ, लेप्य और लयनकर्म के लक्षण का वर्णन किया गया है उसे रूपगता-चूलिका कहते हैं।

रूप-सत्य—पदार्थ के अभाव में मात्र रूप की अपेक्षा उसका कथन करना जैसे—चित्र में वन पुरुष को पुरुष कहना रूप-सत्य है।

रूपस्थ-ध्यान—समवसरण के मध्य में स्थित अनन्त चतुष्टय स

समन्वित अर्हन्त भगवान का जो ध्यान किया जाता है उसे रूपस्थ-ध्यान कहते हैं।

रूपातीत-ध्यान—रूपस्थ-ध्यान में निष्णात योगी के द्वारा जो सिद्ध परमेष्ठी का या शुद्ध आत्मा का ध्यान किया जाता है वह रूपातीत ध्यान है।

रोग-परीषह-जय—शरीर में एक साथ अनेक रोग हो जाने पर भी जो साधु उपचार की इच्छा नहीं करते और रोगजन्य पीडा को समता-पूर्वक सहन करते हैं उनके यह रोग-परीषह-जय है।

रोधन-अन्तराय—आहार-चर्या के समय यदि साधु को किसी के द्वारा आहार का निषेध किया जाता है तो यह रोधन नाम का अन्तराय होता है।

रौद्रध्यान—रुद्र का अर्थ क्रूर आशय है। क्रूर आशय से किया गया कर्म रौद्र है। हिंसा करने में आनन्द मानना, झूठ बोलने में आनन्द मानना, चोरी करने और परिग्रह जोड़ने में आनन्द मानना रौद्रध्यान है। रौद्रध्यान चार प्रकार का है—हिंसानदी, मृषानदी, चौर्यानदी और परिग्रहानदी।

ल

लक्षण—जिसके द्वारा परस्पर सम्मिलित वस्तुओं में से किसी वस्तु विशेष का प्रथक्करण हो वह उसका लक्षण कहलाता है। वह गुण या चिह्न जिसके द्वारा वस्तु की अलग पहचान होती है, लक्षण कहलाता है। लक्षण, धर्म, गुण, स्वभाव व प्रकृति—ये सभी एकार्थवाची हैं। लक्षण के दो भेद हैं—आत्मभूत लक्षण और अनात्मभूत लक्षण।

लक्षण-निमित्तज्ञान—हाथ, पैर व माथे की रेखाएँ और अन्य चिह्न देखकर दुख-सुख आदि जान लेना लक्षण-निमित्त-ज्ञान है।

लघिमा-ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु अपने शरीर को वायु से भी हल्का बनाने में समर्थ होते हैं वह लघिमा-ऋद्धि है।

लब्धि—1 तप विशेष से प्राप्त होने वाली ऋद्धि को लब्धि कहते हैं।
2 जिसके ससर्ग से आत्मा द्रव्येन्द्रिय की रचना करने के लिए तत्पर होता है ऐसे ज्ञानावरण के क्षयोपशम विशेष को लब्धि कहते हैं। 3 घातिया कर्म के क्षय से अर्हन्त भगवान् के क्षायिक दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य—ये नव केवल लब्धियाँ होती हैं। 4 उपशम सम्यक्त्व सवधी लब्धियाँ पाच हैं—क्षयोपशम-लब्धि, विशुद्धि-लब्धि, देशना-लब्धि, प्रायोग्य-लब्धि और करण-लब्धि। प्रथम चार लब्धियाँ भव्य-अभव्य दोनों के होती हैं किन्तु करण-लब्धि भव्य-जीव को ही होती है।

लब्ध्यपर्याप्तक—अपर्याप्तक-नामकर्म के उदय से जो जीव अपने योग्य

काय की प्रवृत्ति को भाव-लेश्या कहते हैं।

लेह्य—रवड़ी, मलाई आदि जो आहार चाटकर खाया जाता है उसे लेह्य कहते हैं।

लोक—1 जिसमें जीव आदि छह द्रव्य पाये जाते हैं उसे लोक अथवा लोकाकाश कहते हैं। उससे बाहर सर्वत्र अनन्त अलोकाकाश है।

लोकविदुसार—जिसमें आठ व्यवहार, चार बीज-राशि, परिकर्म आदि गणित और समस्त श्रुत सम्पदा का वर्णन है वह लोकविदुसार नामक चौदहवा पूर्व है।

लोकमूढता—अधविश्वास से प्रेरित होकर प्रयोजन का विचार किए बिना लौकिक कार्य करना लोकमूढता है। जैसे—नदी या समुद्र आदि में स्नान करना, बालू व पत्थरो का ढेर लगाना, पर्वत से गिरना तथा अग्नि में जलना आदि कार्यों को धर्म समझकर करना लोकमूढता है।

लोकानुप्रेक्षा—‘अनन्त अलोकाकाश के मध्य में पुरुषाकार लोक स्थित है। जीव आदि छह द्रव्यों से यह लोक बना है, उसे न किसी ने बनाया है, न कोई इसे धारण किए है और न ही कोई इसे मिटाने वाला है, यह लोक अनादि-अनन्त है’—इस प्रकार लोक के स्वरूप का बार-बार चिन्तन करना लोकानुप्रेक्षा है।

लोभ—धन पेसा आदि की तीव्र लालसा या गृद्धि होना लोभ है। अथवा पर पदार्थों में ‘यह मेरा है’—इस प्रकार की राग रूप बुद्धि होना लोभ है। लोभ चार प्रकार का है—जीवन-लोभ, आरोग्य-लोभ, इन्द्रिय-लोभ और उपभोग-लोभ।

लोभ-दोष—यदि साधु लोभ प्रगट करके आहार प्राप्त करे तो यह लोभ

नाम का दोष है ।

लौकान्तिक-1 ब्रह्मलोक नामक पाचवे स्वर्ग के अंत में जिनका निवास है वे लौकान्तिक कहलाते हैं । 2 लोक का अर्थ ससार है, अतः जिनके ससार का अंत निकट है वे लौकान्तिक हैं । लौकान्तिक देव एक भवावतारी होते हैं अर्थात् मरणोपरांत एक मनुष्य भव पाकर मुक्त हो जाते हैं । भोग-विलास से विरक्त होने के कारण ये देवर्षि कहलाते हैं । ये चोदह पूर्व के ज्ञाता हैं और मात्र दीक्षा-कल्याणक के अवसर पर तीर्थकरो के वेराग्य की प्रशंसा करने मध्यलोक में आते हैं ।

व

वक्ता—शास्त्र के उपदेश-कर्ता को वक्ता कहते हैं। अथवा जिनमें ध्वनि या वाणी रूप बोलने की क्षमता प्रगट हो जाती है ऐसे द्वीन्द्रिय से लेकर सङ्गी-पचेन्द्रिय तक सभी जीव वक्ता हैं। मोक्षमार्ग में तीन ही वक्ता हैं—सर्वज्ञ तीर्थंकर या सामान्य केवली भगवान्, श्रुतकेवली महाराज और परपरा-आचार्य।

वचन-गुप्ति—पाप रूप असत्य वचनो का त्याग करना या मौन धारण करना वचन-गुप्ति है।

वचन-शुद्धि—पीडादायक, कठोर या असभ्य-वचन नहीं बोलना तथा हित मित ओर मधुर-वचन बोलना वचनशुद्धि है।

वचन-बल-ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु एक मुहूर्त मात्र काल के भीतर संपूर्ण श्रुत को सहज शुद्ध रूप से उच्चारण करने में समर्थ होते हैं उसे वचन-बल-ऋद्धि कहते हैं।

वज्र-ऋषभ-नाराच-सहनन—जिस कर्म के उदय से शरीर में वज्र के समान अभेद्य हड्डियों के ऊपर वज्र का ही वेष्टन होता है और हड्डियाँ परस्पर वज्रमय नाराच अर्थात् कील से जुड़ी होती हैं ऐसा हड्डियों का सुदृढ बधन वज्र-ऋषभ-नाराच-सहनन कहलाता है।

वज्रनाराच-सहनन—जिस कर्म के उदय से शरीर में वज्रमय हड्डियाँ दोनों ओर वज्रमय नाराच अर्थात् कील से जुड़ी होती हैं उसे वज्रनाराच-सहनन कहते हैं।

वध-परीषह-जय-तीक्ष्ण अस्त्र-शस्त्र आदि के द्वारा घात किये जाने पर मारने वाले के प्रति जो साधु लेशमात्र भी आक्रोश नहीं करते और इसे अपने पूर्वकृत कर्म का फल मानकर समता-पूर्वक सहन करते हैं उनके यह वध-परीषह-जय है ।

वनस्पति-काय-वनस्पतिकायिक जीव के द्वारा छोड़ा गया शरीर अर्थात् निर्जीव वनस्पति को वनस्पति-काय कहते हैं ।

वनस्पतिकायिक-वनस्पति ही जिसका शरीर है उसे वनस्पतिकायिक कहते हैं । वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकार के हैं—साधारण-वनस्पति और प्रत्येक वनस्पति ।

वनस्पति-जीव-जो जीव वनस्पतिकायिक में उत्पन्न होने के लिए विग्रहगति में जा रहा है उसे वनस्पति-जीव कहते हैं ।

वनीपक-दोष-कुत्ता, कौवा या पाखण्डी साधु आदि को दान देने से पुण्य होता है—ऐसा दाता के अनुकूल वचन बोलकर यदि साधु आहार ग्रहण करे तो यह वनीपक नाम का दोष है ।

वन्दना-1 एक तीर्थकर की स्तुति करना वन्दना कहलाती है ।
2 जिसमें एक तीर्थकर सबधी और उन तीर्थकर के अवलम्बन से जिनालय सबधी वन्दना का वर्णन है वह वन्दना नाम का अङ्गबाह्य है ।

वर्ग-सबसे जघन्य गुण वाले प्रदेश के अविभागी प्रतिच्छेदों के समूह को वर्ग कहते हैं ।

वर्गणा-वर्गों के समूह को वर्गणा कहते हैं अथवा समान गुण वाले परमाणु-पिण्ड को वर्गणा कहते हैं ।

वर्णनामकर्म—जिसके उदय से शरीर में श्वेत आदि वर्ण अर्थात् रंग की उत्पत्ति होती है उसे वर्णनामकर्म कहते हैं। वर्ण पांच प्रकार के हैं—श्वेत, पीत, रक्त, नील और कृष्ण वर्ण।

वर्तना—द्रव्य में प्रति समय होने वाले परिवर्तन में जो सहकारी है उस वर्तना कहते हैं। यह काल-द्रव्य का उपकार है।

वषट्—पूजा करते समय वषट् पद के द्वारा भगवान को अपने निकट स्थापित किया जाता है। यह एक वीज-पद है।

वशित्व-ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु जीवसमूह को वश में करके उनका मनचाहा आकार आदि बनाने में सक्षम होते हैं वह वशित्व-ऋद्धि कहलाती है।

वसतिका—साधुओं के ठहरने का स्थान वसतिका कहलाता है। ध्यान-अध्ययन के योग्य निर्दोष वसतिका में ही साधु ठहरते हैं।

वस्तुत्व—वस्तु के भाव को वस्तुत्व कहते हैं। वस्तु सामान्य-विशेषात्मक होती है और प्रत्येक वस्तु में अर्थ क्रियाकारीपना पाया जाता है।

वाचना—निर्दोष ग्रन्थ, ग्रन्थ का अर्थ या दोनों ही योग्य-पात्र को प्रदान करना वाचना है। अथवा शिष्यों को पढ़ाने का नाम वाचना है। वाचना चार प्रकार की है—नन्दा, जया, भद्रा और सौम्या-वाचना।

वाचिक-विनय—पूज्य वचनों से बोलना, हित रूप बोलना, थोड़ा बोलना, मिष्ट बोलना, आगम के अनुसार बोलना, कठोरता-रहित बोलना तथा अभिमान रहित वचन बोलना वाचिक-विनय है।

वातबलय—वृक्ष की त्वचा के समान समस्त लोक को घेरे हुए तीन

वातवलय है। सघन-वायु का वलय घनवातवलय कहलाता है, जलमिश्रित वायु का वलय घनोदधि के नाम से जाना जाता है तथा विरल वायु का वलय तनुवातवलय कहलाता है। सबसे पहले घनोदधि वातवलय लोक का आधार है, उसे घेरे हुए घनवातवलय और उसके उपरांत तनुवातवलय है। इस तरह समूचा लोक तीन वातवलियों से घिरा है और अलोकाकाश के मध्य स्थित है।

वात्सल्य-मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका रूप साधर्मी जनो से गाय-वछडे के समान स्वाभाविक स्नेह रखना सम्यग्दृष्टि का वात्सल्यगुण है।

वादित्व-ऋद्धि-जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु, इन्द्र के समान ज्ञानवान् और वाद-विवाद करने में निपुण वादी को भी युक्तियुक्त समाधान के द्वारा निरुत्तर करने में समर्थ है उसे वादित्व-ऋद्धि कहते हैं।

वामन-सस्थान-जिस कर्म के उदय से जीव का वोना शरीर होता है वह वामन-सस्थान है।

वायु-काय-वायुकायिक जीवों से रहित वायु को वायुकाय कहते हैं।

वायुकायिक-वायु ही जिसका शरीर है उसे वायुकायिक जीव कहते हैं।

वायुजीव-जो जीव वायुकायिक में उत्पन्न होने के लिए विग्रह गति में जा रहा है उसे वायु-जीव कहते हैं।

वारुणी-धारणा-मारुती-धारणा के उपरांत वह योगी इन्द्रधनुष, विजली, गर्जनादि सहित मघों से भर हुए आकाश का चितन कर फिर

उन मेघों की बड़ी-बड़ी बूंदों में निरंतर बरसते हुए चिंतन करे। इस बरसते हुए जल से जो आग्नेयी-धारणा में शरीर के जलने से भस्म उत्पन्न हुई थी उस भस्म का प्रक्षालन करता हुआ चिन्तन करे यह वारुणी-धारणा है।

वासुपूज्य—बारहवें तीर्थंकर। चम्पापुरी के राजा वसुपूज्य और रानी जयावती के यहां जन्म हुआ। इनकी आयु बहत्तर लाख वर्ष थी और शरीर सत्तर धनुष ऊंचा था। शरीर की आभा कुकुम के समान लाल थी। कुमार काल के अट्ठारह लाख वर्ष बीत जाने पर ससार से विरक्त होकर जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। एक वर्ष की कठिन तपस्या के फलस्वरूप इन्हें केवलज्ञान हुआ। इनके सघ में छियासठ गणधर, बहत्तर हजार मुनि, एक लाख छह हजार आर्यिकाएँ, दो लाख श्रावक और चार लाख श्राविकाएँ थीं। इनके पाचों कल्याणक चम्पापुरी में हुए।

विकथा—धर्म-कथा से रहित मात्र अर्थ और काम-कथा करना विकथा कहलाती है। पापास्रव में कारणभूत चार प्रकार की विकथा प्रसिद्ध है—स्त्री-कथा, राज-कथा, चोर-कथा और भोजन-कथा।

विकलेन्द्रिय—दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय जीवों को विकलेन्द्रिय या विकलत्रय कहते हैं।

विकल्प—1 'मैं सुखी हूँ या मैं दुखी हूँ'—इस प्रकार जो अंतरंग में हर्ष-विषाद रूप भाव होता है उसे विकल्प कहते हैं। 2 पदार्थ का प्रतिभास विकल्प कहलाता है या योग के परिवर्तन को विकल्प कहते हैं जैसे—'यह घड़ा है या यह वस्त्र है' इस प्रकार एक के बाद एक

पदार्थ का जानने रूप विकल्प होता रहता है।

विक्रिया—छोटा, बड़ा, हल्का, भारी आदि अनेक प्रकार का शरीर बना लेना विक्रिया कहलाती है। यह दो प्रकार की है—पृथक्-विक्रिया और अप्रथक् या एकत्व-विक्रिया। देव व नारकी जीवों को, तेजस्कायिक, वायुकायिक जीवों को तथा साधु को विक्रिया करने की सामर्थ्य प्राप्त होती है।

विक्षेपणी-कथा—मिथ्या-मतों का निराकरण या शोधन करने वाली विक्षेपणी-कथा है।

विग्रहगति—विग्रह का अर्थ शरीर है। पूर्वभव के शरीर को छोड़कर दूसरे नवोन शरीर को ग्रहण करने के लिए जीव जो गमन करता है उसे विग्रहगति कहते हैं। यह दो प्रकार की होती है—मोड़वाली गति और बिना मोड़े वाली गति।

विजयार्द्र पर्वत—यह एक रमणीय पर्वत है। इस पर विद्याधरो का निवास है। यह पच्चीस योजन ऊँचा, पचास योजन चौड़ा और सवा छह योजन गहरा है। इसका रंग चांदी के समान है। जम्बूद्वीप में विदेह मन्वन्ती यत्तीस तथा भरत और ऐरावत क्षेत्र सम्बन्धी एक-एक ऐसे चोटीय विजयार्द्र पर्वत हैं। यहाँ कर्मभूमि के योग्य षट्कर्म होते हैं। विद्याधर यह है कि यहाँ विद्याधर-मनुष्यों को जन्म से प्राप्त विद्याएँ स्वयंसेवक फल देती हैं और सदा चाँचा काल रहता है। चक्रवर्ती के विजय-क्षेत्र को आधी सीमा इसी पर्वत के द्वारा नियंत्रित होती है। रमणीय इस पर्वत का नाम विजयार्द्र-पर्वत रखा गया है।

विजिगीषु-कथा—वादी और प्रतिवादी में अपने पक्ष को स्थापित करने के लिए हार-जीत होने तक जो परस्पर चर्चा होती है उसे विजिगीषु-कथा कहते हैं।

विडौषधि-ऋद्धि—जिसके प्रभाव से साधु का मल-मूत्र भी जीवों के रोगों को नष्ट करने में समर्थ होता है उसे विडौषधि ऋद्धि कहते हैं।

विदारण-क्रिया—दूसरे के पापकर्म को प्रकाशित करना विदारण-क्रिया है।

विदेह—देह रहित सिद्ध भगवान् विदेह कहलाते हैं। अथवा देह में रहते हुए भी जो जन्म-मरण से रहित है ऐसे अर्हन्त भगवान् विदेह हैं।

विदेह-क्षेत्र—जम्बूद्वीप में एक, धातकीखण्ड में दो और पुष्करार्थ में दो ऐसे पाँच विदेह-क्षेत्र हैं। इनमें प्रत्येक के बत्तीस-बत्तीस देश हैं। इस प्रकार अढाई द्वीप में कुल एक सौ साठ विदेह-देश हैं। यहाँ मनुष्यों की ऊँचाई पाँच सौ धनुष और आयु एक कोटि वर्ष पूर्व होती है। तीर्थंकर आदि शलाका-पुरुष और ऋद्धिधारी साधुओं का समागम सदा बना रहता है। प्रत्येक विदेह-देश में तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि शलाका पुरुष यदि अधिक-से-अधिक होंगे तो एक-एक होते हैं अर्थात् कुल एक सौ साठ होते हैं। यदि कम-से-कम होंगे तो एक विदेह-क्षेत्र में चार और पाँचों विदेह में बीस तीर्थंकर सदा विद्यमान रहते हैं। यहाँ विदेही जन अर्थात् अर्हन्त भगवान् सदा विद्यमान रहते हैं। इसलिए इसका विदेह नाम सार्थक है।

विद्या-दोष—यदि साधु विद्या या मन्त्र आदि से आमन्त्रित देवों के द्वारा आहार ग्रहण करे तो यह विद्या नामक दोष है।

विद्याधर—विजयार्द्ध पर्वत पर निवास करने वाले मनुष्य विद्याधर कहलाते हैं। विद्याधर लोग जाति, कुल और तप—इन तीन प्रकार की विद्याओं और देवपूजा, गुरुपास्ति आदि षट्कर्म से सम्पन्न होते हैं।

विद्यानुप्रवाद—जिसमें सर्व विद्याओं, आठ महानिमित्तों, क्षेत्र, श्रेणी, लोक-प्रतिष्ठा, समुद्रघात आदि का वर्णन किया गया है वह विद्यानुप्रवाद-पूर्व नाम का दसवा पूर्व है।

विधान—विधान का अर्थ प्रकार या भेद है।

विनय—पूज्य पुरुषों का आदर करना विनय-तप है अथवा रत्नत्रय को धारण करने वाले पुरुषों के प्रति नम्रता धारण करना विनय है। विनय पांच प्रकार की है—ज्ञान-विनय, दर्शन-विनय, चारित्र-विनय, तप-विनय और उपचार-विनय। उपचार विनय तीन प्रकार की है—कायिक, वाचिक और मानसिक विनय।

विनय-सम्पन्नता—मोक्ष के साधनभूत सम्यग्ज्ञान आदि का और उसके साधक गुरुजनों का यथायोग्य रीति से आदर-सत्कार करना तथा कषाय की निवृत्ति करना विनय-सम्पन्नता है। यह सोलह कारण भावना में एक भावना है।

विनयाचार—मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक शास्त्र को पढ़ना विनयाचार है।

विपरीत-मिथ्यात्व—1 वस्त्र आदि परिग्रह से युक्त साधु को भी निर्ग्रन्थ मानना, केवली भगवान को कवलाहारी मानना तथा स्त्री भी सिद्ध होती है—ऐसी विपरीत मान्यता होना विपरीत-मिथ्यात्व है। 2 हिंसा,

झूठ, चोरी या अज्ञान आदि से मुक्ति प्राप्त होती है ऐसा मानना विपरीत-मिथ्यात्व है।

विपर्यय—देखिए विभ्रम।

विपाक—कर्म के फल को विपाक कहते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के निमित्त से उत्पन्न हुआ कर्म का विविध प्रकार का पाक अर्थात् फल ही विपाक कहलाता है। इसी को अनुभव भी कहते हैं।

विपाक-विचय—ससार में जीवों को जो एक ओर अनेक भव में पुण्य और पाप-कर्म का फल प्राप्त होता रहता है उसका बार-बार चिन्तन करना विपाक-विचय नाम का धर्म-ध्यान है।

विपाक-सूत्राङ्ग—जिसमें पुण्य और पाप के विपाक अर्थात् फल का वर्णन किया गया है वह विपाक-सूत्राङ्ग है।

विपुलमति—विपुल का अर्थ विस्तीर्ण है। जो दूसरे के मन में स्थित सरल और कुटिल सब बातों को जान लेता है वह विपुलमति मन-पर्यय-ज्ञान है। आशय यह है कि विपुलमति मन पर्यय ज्ञान के द्वारा सरल और कुटिल मन, वचन, कायगत अर्थ को तथा चिन्तित, अर्धचिन्तित, अचिन्तित व विपरीत चिन्तित सब प्रकार के चिन्ता, जीवन-मरण, दुःख-सुख आदि को जाना जा सकता है।

विभाव—स्वभाव से विपरीत परिणमन करना विभाव है। कर्म के उदय से होने वाले जीव के रागादि भावों को विभाव कहा गया है।

विभाव-पर्याय—‘पर’ द्रव्य के निमित्त से होने वाली पर्याय को विभाव-पर्याय कहते हैं जैसे—जीव की देव, मनुष्य, तिर्यच आदि

पर्याय ।

विभ्रम—1 वस्तु को विपरीत रूप में ग्रहण करना विभ्रम है । जैसे—सीप को चादी और चादी को सीप कहना । 2 अनेक धर्मात्मक वस्तु को 'यह नित्य ही है' या 'अनित्य ही है'—ऐसा सर्वथा एकधर्म रूप जानना विभ्रम है ।

विमलनाथ—तेरहवें तीर्थंकर । काम्पिल्य नगर के राजा कृतवर्मा की रानी जयश्यामा के यहाँ इनका जन्म हुआ । इनकी आयु साठ लाख वर्ष थी । शरीर साठ धनुष ऊँचा था और स्वर्ण के समान कान्तिमान था । हेमन्त ऋतु में मेघ की शोभा को तत्क्षण विलीन होते देखकर विरक्त हो गए । जिनदीक्षा ले ली और तीन वर्ष की कठिन तपस्या के फलस्वरूप केवलज्ञान प्राप्त किया । इनके सघ में पचपन गणधर, अडसठ हजार मुनि, एक लाख तीन हजार आर्यिकाएँ, दो लाख श्रावक व चार लाख श्राविकाएँ थी । इन्होंने सम्मेदशिखर से मोक्ष प्राप्त किया ।

विमोह—देखिए अनध्यवसाय ।

विरताविरत—देखिए सयतासयत या देशसयत ।

विराग—पचेन्द्रिय के विषयो से विरक्त होने का नाम विराग है ।

विरोधी—हिंसा—शत्रु से अपना वचाव करने के लिए जो हिंसा होती है उसे विरोधी-हिंसा कहते हैं ।

विवक्षा—वक्ता की इच्छा को विवक्षा कहते हैं । प्रश्नकर्ता के प्रश्न से ही प्रतिपादन करने वाले की विवक्षा होती है ।

विवाह—कन्या के वरण को विवाह कहते हैं । जैनागम में केवल सन्तान

उत्पन्न करने की इच्छा से विवाह की स्वीकृति दी गई है क्योंकि सस्कारवान सन्तान के द्वारा धर्म की परम्परा का निर्वाह होता है।

विविक्त शय्यासन—रागद्वेष उत्पन्न करने वाले आसन या शय्या का त्याग करके निर्वाध अध्ययन, ध्यान या ब्रह्मचर्य की सिद्धि के लिए साधु के द्वारा जो एकान्त स्थान पर शय्या व आसन ग्रहण किया जाता है वह विविक्त शय्यासन नाम का तप है।

विवेक—1 जिस-जिस वस्तु के अवलम्बन से अशुभ परिणाम होते हैं उसको त्याग देना अथवा उससे स्वयं दूर होना विवेक नाम का प्रायश्चित्त है। 2 दोषयुक्त साधु को गण, गच्छ, द्रव्य या क्षेत्र आदि से अलग करना विवेक नाम का प्रायश्चित्त है।

विशुद्धि—सातावेदनीय कर्म के बन्धयोग्य परिणाम का नाम विशुद्धि है। अथवा कषाय की मदता का नाम विशुद्धि है।

विशुद्धि-लब्धि—साता-वेदनीय आदि शुभकर्मों के बन्ध योग्य परिणाम या असाता आदि अशुभ कर्मों के बन्ध के विरोधी परिणाम का नाम विशुद्धि है उसकी प्राप्ति होना विशुद्धि-लब्धि है।

विषय—इन्द्रियों के द्वारा जानने योग्य पदार्थ को विषय कहते हैं। पाच रस, पाच वर्ण, दो गंध, आठ स्पर्श और सात स्वर ऐसे सत्ताडम भेद इन्द्रिय सम्बन्धी विषयों के हैं तथा अनेक विकल्प रूप एक विषय मन का है, इस प्रकार कुल विषय अष्टादश हैं।

विसंयोजना—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया व लोभ को अन्य प्रकृति रूप अर्थात् अप्रत्याख्यान आदि बारह कषाय और हास्य आदि नौ

नोकषाय रूप से परिवर्तित करना विसयोजना कहलाती है।

विस्तार-सम्यग्दर्शन—द्वादशांग रूप जिनवाणी में वर्णित बारह अङ्ग और चौदह पूर्व को बहुत विस्तार से सुनकर जो सम्यग्दर्शन होता है वह विस्तार-सम्यग्दर्शन कहलाता है।

विहायोगति-नामकर्म—विहायस् का अर्थ आकाश है। जिस कर्म के उदय से भूमि का आश्रय लेकर या भूमि का आश्रय लिए बिना भी जीवों का आकाश में गमन होता है वह विहायोगति नामकर्म है। यह दो प्रकार का है—प्रशस्त और अप्रशस्त। हाथी, बैल, हस आदि की अच्छी चाल को प्रशस्त विहायोगति कहते हैं। ऊँट या सर्प आदि की अटपटी चाल को अप्रशस्त विहायोगति कहते हैं।

वीतराग—आत्म-साधना के द्वारा जिन्होंने राग-द्वेष को नष्ट कर दिया है उन्हें वीतराग कहते हैं।

वीतराग-कथा—गुरु और शिष्य के बीच या रागद्वेष से विमुख विशेष विद्वानों के बीच तत्त्व के निर्णय होने तक जो चर्चा चलती है उसे वीतराग-कथा कहते हैं।

वीतराग-चारित्र—देखिए निश्चय-चारित्र।

वीतराग-सम्यक्त्व—देखिए निश्चय-सम्यग्दर्शन।

वीर्य-प्रवाद—जिसमें केवली भगवान की अनन्त शक्ति, इन्द्र आदि की ऋद्धिया, चक्रवर्ती, बलदेव आदि की सामर्थ्य और द्रव्य के लक्षण आदि का वर्णन किया गया है वह वीर्य-प्रवाद पूर्व नाम का तीसरा पूर्व है।

वीर्याचार—अपनी शक्ति को न छिपाकर उत्साहपूर्वक तप आदि

पचाचार का पालन करना वीर्याचार कहलाता है ।

वीर्यान्तराय—द्रव्य की अपनी शक्ति विशेष का नाम वीर्य है । जिस कर्म के उदय से जीव किसी कार्य के प्रति उत्साहित होने की इच्छा होते हुए भी उत्साहित नहीं हो पाता या असमर्थता का अनुभव करता है उसे वीर्यान्तराय कर्म कहते हैं ।

वृत्ति-परिसंख्यान—आहार के इच्छुक साधु का एक, दो घर आदि विषयक सकल्प करना वृत्ति-परिसंख्यान नाम का तप है । वृत्ति-परिसंख्यान में घर, दाता, वर्तन और भोजन इन चारों का परिसंख्यान किया जाता है । जैसे—मे आज पांच घरों से अधिक नहीं जाऊंगा या मैं आज चार दाताओं से ही आहार लूंगा या कासे के पात्र में ही आज आहार लूंगा अथवा आज चावल व मूंग ही खाऊंगा—ऐसी अनेक प्रकार की विधि या सकल्प लेना ।

वेद—आत्मा में जो मेथुन या कामसेवन रूप चित्त-विक्षेप उत्पन्न होता है उसे वेद कहते हैं । इसका दूसरा नाम लिंग भी है । वेद या लिंग तीन प्रकार का है—स्त्री वेद, पुरुष वेद और नपुंसक वेद । यह तीनों वेद, द्रव्य व भाव रूप होते हैं । नामकर्म के उदय से शरीर में स्त्री-पुरुष के अनुरूप जो योनि, मेहन आदि की रचना होती है वह द्रव्य-वेद है । स्त्री, पुरुष व नपुंसक इन तीनों में जो परस्पर एक दूसरे की अभिलाषा होती है वह भाव-वेद है । एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पचेन्द्रिय पर्यंत सब जीवों के एकमात्र नपुंसक वेद है । मनुष्यों में तीनों वेद हैं । देवों में स्त्री पुरुष ये दो वेद हैं । नारकी जीव के एकमात्र नपुंसक वेद है ।

वेदक-सम्यक्त्व-दर्शन-मोहनीय कर्म की सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से जो तत्त्वार्थ-श्रद्धान होता है वह वेदक सम्यक्त्व कहलाता है। इसे क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन भी कहते हैं। सम्यक्त्व-प्रकृति के उदय में वेदक सम्यग्दृष्टि जीव शिथिल श्रद्धानी होता है और उसका सम्यग्दर्शन चल, मल और अगाढ दोष से युक्त होता रहता है।

वेदना-आर्तध्यान-अनुभव करने का नाम वेदना है। 'वेदना' सुख-दुःख दोनो रूप होती है पर यहा आर्तध्यान का प्रकरण होने से वेदना का अर्थ दुःख है। रोगादि जनित वेदना के होने पर उसे दूर करने की सतत चिन्ता करना वेदना नाम का आर्तध्यान है।

वेदना-भय-रोगादि जनित वेदना के उत्पन्न होने की आशका से जो भय होता है उसे वेदना-भय कहते हैं।

वेदना-समुद्घात-अत्यन्त तीव्र वेदना होने पर जो आत्मा के प्रदेश शरीर से बाहर फेल जाते हैं उसे वेदना-समुद्घात कहते हैं।

वेदनीय कर्म-जिस कर्म के उदय से जीव सुख-दुःख का वेदन अर्थात् अनुभव करता है उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। यह दो प्रकार का है-साता-वेदनीय व असाता-वेदनीय।

वैक्रियिक-शरीर-छोटा, बड़ा, हल्का, भारी अनेक प्रकार का शरीर बना लेना विक्रिया कहलाती है। विक्रिया ही जिस शरीर का प्रयोजन है वह वैक्रियिक-शरीर कहलाता है। वैक्रियिक-शरीर उपपाद जन्म से पैदा होता है तथा ऋद्धि से भी प्राप्त होता है।

वैक्रियिक-समुद्घात-विक्रिया करने के लिए अर्थात् शरीर को छोटा,

बड़ा या अन्य शरीर रूप करने के लिए आत्मा के प्रदेश शरीर से बाहर निकलते है वह वैक्रियिक-समुद्घात है।

वैनयिक—जिसमे ज्ञान, दर्शन आदि पाच प्रकार की विनय का वर्णन किया गया है वह वैनयिक नाम का अङ्गबाह्य है।

वैनयिक-मिथ्यात्व—सब मतों और सब देवताओं को एक समान मानना वैनयिक-मिथ्यात्व है।

वैमानिक देव—जो विमानों में उत्पन्न होते है वे वैमानिक देव कहलाते है। वैमानिक देव दो प्रकार के है—कल्पवासी और कल्पातीत।

वैय्यावृत्त्य—1 गुणीजनों के ऊपर दुख आ पड़ने पर उसके निवारणार्थ जो सेवा-सुश्रुषा की जाती है वह वैय्यावृत्त्य नाम का तप है। आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, सध, साधु और मनोज्ञ—इन पर विपत्ति आने पर वैय्यावृत्त्य करना चाहिए। रोगादि से व्याकुल साधु को प्रासुक आहार औषध आदि देना तथा उनके अनुकूल वातावरण बना देना यही वैय्यावृत्त्य है। 2 गुणीजनों के ऊपर दुख आ पड़ने पर निर्दोष-विधि से उनका दुख दूर करना वैय्यावृत्त्य-भावना है। यह सोलह-कारण भावना में एक भावना है।

व्यञ्जन-निमित्तज्ञान—शरीर में स्थित तिल या मसा आदि को देखकर दुख-सुखादि को जान लेना व्यञ्जन-निमित्त-ज्ञान है।

व्यञ्जन-पर्याय—जो स्थूल है, शब्द के द्वारा कही जा सकती है और चिरस्थायी है उसे व्यञ्जन-पर्याय कहते है। जैसे जीव की सिद्ध पर्याय या मनुष्य आदि पर्याय।

व्यञ्जनाचार—अक्षर, पद, वाक्य आदि का शुद्ध पाठ करना व्यञ्जनाचार है।

व्यञ्जनावग्रह—देखिए अवग्रह।

व्यन्तर—भूत, पिशाच आदि जाति के देवों को जैनागम में व्यन्तर-देव कहा गया है। इनका निवास अधिकतर मध्यलोक में खडहर आदि सूने स्थानों में रहता है। मनुष्य व तिर्यचो के शरीर में प्रवेश करके ये देव उन्हें लाभ-हानि पहुँचा सकते हैं। अन्य देवों के समान इनका भी बहुत वेभव और परिवार आदि होता है। किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गधर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच—ये आठ प्रकार के व्यन्तर-देव हैं।

व्यय—द्रव्य की पूर्व-पर्याय का विनाश होना व्यय कहलाता है।

व्यवहार-काल—समय, निमेष, घड़ी, घटा, दिन, रात, मास, वर्ष आदि को व्यवहार-काल कहते हैं।

व्यवहार-चारित्र—व्रत आदि का पालन करना व्यवहार-चारित्र है अथवा मन, वचन, काय से समस्त पाप-क्रियाओं का त्याग करना व्यवहार-चारित्र है। व्यवहार-चारित्र, सराग-सयम, शुभोपयोग, अपहृत-सयम, एकदेश परित्याग या अपवाद-मार्ग ये सभी एकार्थवाची हैं।

व्यवहार-नय—सग्रह-नय के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थों का विधिपूर्वक भेद करना व्यवहार-नय है। जैसे—सग्रह-नय के विषयभूत द्रव्य में जीव व अजीव द्रव्य ऐसे दो भेद करना। उन्में भी देव, मनुष्य आदि जीव के भेदों का आश्रय लेकर व्यवहार करना। वह दो प्रकार

श

शक्तितस्तप—अपनी शक्ति को न छिपाते हुए मोक्षमार्ग के अनुकूल कायक्लेश आदि तप करना शक्तितस्तप कहलाता है। यह सोलहकारण भावना में एक भावना है।

शक्तितस्त्याग—अपनी शक्ति के अनुरूप दान देना शक्तितस्त्याग भावना है। यह सोलहकारण भावना में एक भावना है।

शङ्कित-दोष—‘यह आहार आगमानुसार मेरे लेने योग्य है या नहीं’, इस प्रकार सन्देह होने पर भी यदि साधु उसे ग्रहण करे तो यह शङ्कित नाम का दोष है।

शब्द-गारव—‘मेरे समान शब्दों का स्पष्ट उच्चारण करने वाला कोई नहीं है’ ऐसा अपना बडप्पन बताना शब्द-गारव है।

शब्द-नय—व्याकरण के अनुसार सिद्ध कर लिए गए शब्द का यथायोग्य प्रयोग करना शब्द-नय है। अथवा शब्द के माध्यम से अर्थ का बोध कराने वाला शब्द-नय है। शब्द नय में पर्यायवाची विभिन्न शब्दों का प्रयोग होने पर भी एक ही अर्थ का कथन किया जाता है। जैसे—इन्द्र, शक्र, पुरन्दर आदि पर्यायवाची शब्दों का एक ही अर्थ है परन्तु यह एकार्थता समान काल, लिंग आदि वाले शब्दों में है सब पर्यायवाची शब्दों में नहीं। शब्दनय के कथन में इसका भी विचार किया जाता है।

शब्द-समय—वर्ण, पद व वाक्य रूप आगम को शब्द-समय या शब्द-आगम कहते हैं। शब्द-समय द्रव्यश्रुत रूप है।

शम—काम क्रोधादि का शमन करना शम कहलाता है ।

शय्यापरीषह-जय—जो साधु स्वाध्याय, ध्यान अथवा मार्ग के श्रम से थककर कठोर भूमि पर एक करवट से शयन करता है, उपसर्ग आदि बाधा आने पर विचलित नहीं होता और बाधा को समतापूर्वक सहन करता है उसके यह शय्यापरीषह-जय है ।

शरीर—अनन्तानन्त पुद्गलो के समवाय का नाम शरीर है । अथवा जो विशेष नामकर्म के उदय से प्राप्त होकर निरन्तर जीर्ण-शीर्ण होता या गलता रहता है वह शरीर है । औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस व कार्मण—ये पाच प्रकार के शरीर हैं ।

शरीर-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव के औदारिक आदि शरीर की रचना होती है उसे शरीर-नामकर्म कहते हैं ।

शलाका-पुरुष—तीर्थकर, चक्रवर्ती आदि प्रसिद्ध पुण्यवान पुरुषों को शलाका-पुरुष कहते हैं । चौबीस तीर्थकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण और नौ बलभद्र—ये त्रेसठ शलाका पुरुष हैं ।

शल्य—शल्य का अर्थ पीडा देने वाली वस्तु है । जब शरीर में काटा आदि चुभ जाता है तो वह पीडादायक होने से शल्य कहलाता है । इसी प्रकार शरीर और मन सम्बन्धी पीडा का कारण होने से कमोदय-जनित विकारों को भी शल्य कहते हैं । शल्य तीन प्रकार की है—माया-शल्य, मिथ्या-शल्य और निदान-शल्य ।

शान्तिनाथ—ये सोलहवे तीर्थकर और पाचवे चक्रवर्ती थे । हस्तिनापुर के कुरुवशी राजा विश्वसेन इनके पिता और गान्धार नगर के राजा

अजितजय की पुत्री ऐरा इनकी माता थी। इनकी आयु एक लाख वर्ष, ऊँचाई चालीस धनुष और शरीर की कान्ति स्वर्ण के समान थी। कुमार काल के पच्चीस हजार वर्ष बीत जाने पर इनका राज्याभिषेक हुआ। एक दिन दर्पण में अपने दो प्रतिविम्ब देखकर इन्हें वेराग्य हो गया। तब चक्रवर्ती का विपुल वैभव छोड़कर इन्होंने जिनदीक्षा ले ली। सोलह वर्ष की तपस्या के उपरान्त इन्हें कवलज्ञान प्राप्त हुआ। इनके सघ में छत्तीस गणधर, वावन हजार मुनि, साठ हजार तीन सौ आर्यिकाएँ, दो लाख श्रावक व चार लाख श्राविकाएँ थीं। इन्होंने सम्मैदशिखर से मोक्ष प्राप्त किया।

शास्त्र—जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे गये सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य रूप धर्म का जिसमें प्रतिपादन किया गया है उसे आगम या शास्त्र कहते हैं।

शास्त्र-दान—भव्य जीवों को श्रद्धापूर्वक शास्त्र भेंट करना अथवा धर्मोपदेश देना ज्ञानदान या शास्त्रदान कहलाता है।

शिक्षाव्रत—मुनि धर्म की शिक्षा पाने के लिए जो व्रत श्रावक के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं उन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं। शिक्षाव्रत चार हैं—देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैय्यावृत्त्य या अतिथि-संविभाग।

शीत-परीषह-जय—जिसने वस्त्र आदि आवरण का त्याग कर दिया है जो वृक्ष-मूल, नदी-तट या शिलातल आदि पर निवास करते हुए बर्फ गिरने या शीतल हवा चलने पर उसे समतापूर्वक सहन करता है उस साधु के यह शीत-परीषह-जय है।

शीतलनाथ—दसवे तीर्थकर । भद्रपुर नगर के इक्ष्वाकुवंशी राजा दृढरथ इनके पिता थे और रानी सुनन्दा माता थीं । इनकी आयु एक लाख वर्ष पूर्व थी, ऊर्चाई नब्बे धनुष और शरीर की कान्ति स्वर्ण के समान थी । एक दिन हिमपटल को क्षण भर में विलीन होते देखकर इन्हें वैराग्य हो गया और इन्होंने जिनदीक्षा ले ली । तीन वर्ष तक कठिन तपस्या के उपरान्त इन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ । इनके संघ में इक्यासी गणधर, एक लाख मुनि, तीन लाख अस्सी हजार आर्यिकाएँ, दो लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाएँ थीं । इन्होंने सम्मेदशिखर से मोक्ष प्राप्त किया ।

शीलव्रतेष्वनतिचार—अहिंसा आदि व्रतों की रक्षा के लिए क्रोधादि कषाय का त्याग करना शील है । व्रत और शील दोनों का निर्दोष पालन करना शीलव्रतेष्वनतिचार है । यह सोलह-कारण-भावना में एक भावना है ।

शुक्लध्यान—रागादि विकल्प नष्ट हो जाने पर आत्मा में जो निर्विकल्प-ध्यान की प्राप्ति होती है उसे शुक्लध्यान कहते हैं । जैसे मैल हट जाने से वस्त्र स्वच्छ होकर शुक्ल कहलाता है । उसी प्रकार कषाय रूपी मैल के नष्ट होने पर आत्मा के शुचि गुण के सम्बन्ध से इस ध्यान को भी शुक्लध्यान कहते हैं । शुक्ल-ध्यान के चार सोपान या भेद हैं—पृथक्त्ववितर्कवीचार, एकत्व-वितर्क अवीचार, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और व्युपरनक्रियानिवृत्ति । प्रथम दो शुक्ल ध्यान के स्वामी चौदह पूर्व के ज्ञाता मुनि होते हैं । शेष दो शुक्लध्यान केवली भगवान को होते हैं ।

शुक्ल-लेश्या—पक्षपात न करना, आगामी-काल में भोग की आकांक्षा

न करना, समस्त प्राणियों में समता-भाव रखना तथा रागद्वेष व मोह नहीं करना, ये शुक्ल-लेश्या के लक्षण हैं।

शुद्धोपयोग—रागादि विकल्पो से रहित आत्मा की निश्चल दशा ही शुद्धोपयोग है। निश्चय रत्नत्रय से युक्त वीतरागी श्रमण को शुद्धोपयोगी कहा गया है।

शुभ तैजस—देखिए प्रशस्त नि सरणात्मक तैजस।

शुभ-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से शरीर रमणीय होता है वह शुभ-नामकर्म है। इससे विपरीत अशुभ-नामकर्म है।

शुभोपयोग—दया, दान, पूजा, व्रत, शील आदि रूप शुभ राग और चित्त-प्रसाद रूप परिणाम होना शुभोपयोग है।

शैक्ष—शिक्षाशील साधु को शैक्ष कहते हैं।

शोक—उपकार करने वाले से सबध छूट जाने पर जो चित्त में विकलता होती है उसे शोक कहते हैं।

शौच—लोभ का त्याग करना शौच-धर्म है। जो मुनि इच्छाओं को रोककर और वैराग्य रूप विचारों से युक्त होकर आचरण करता है उसके शौच-धर्म होता है।

शौचोपकरण—मुनिजनों के देह-शुद्धि में सहायक कमण्डलु को शौचोपकरण कहते हैं।

श्रमण—देखिए साधु।

श्रावक—सच्चे देव-शास्त्र-गुरु पर श्रद्धा रखने वाले सद्गृहस्थ को

श्रावक कहते हैं। श्रावक की तीन विशेषताएँ होती हैं—वह श्रद्धावान, विवेकवान और सदाचारी होता है। श्रावक तीन प्रकार के हैं—पाक्षिक-श्रावक, नैष्ठिक-श्रावक और साधक-श्रावक।

श्रावक-धर्म—1. दान, पूजा, शील और उपवास यह श्रावक-धर्म है।
2 पूर्वजों की कीर्ति की रक्षा करना, देव-पूजा, अतिथि-सत्कार, वन्धु-बान्धवों की सहायता और आत्मोन्नति में सदा तत्पर रहना—ये श्रावक-धर्म हैं।

श्री—‘श्री’ का अर्थ लक्ष्मी है। अर्हन्त भगवान के अनन्त चतुष्टय रूप अतरंग-लक्ष्मी और समवसरण आदि बाह्य-लक्ष्मी को ‘श्री’ कहते हैं।

श्रुतकेवली—द्वादशांग रूप समस्त श्रुतज्ञान को धारण करने वाले महर्षि को श्रुत-केवली कहते हैं। श्रुतकेवली सर्व आगम के ज्ञाता होते हैं अर्थात् द्रव्यश्रुत व भावश्रुत दोनों से सम्पन्न होते हैं।

श्रुतज्ञान—1 मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ के अवलम्बन से तत्सम्बन्धी दूसरे पदार्थ का जो ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। 2 जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे गए वचनों के अनुरूप गणधर आदि के द्वारा जो ग्रन्थ रचना की जाती है उसे श्रुत या श्रुतज्ञान कहते हैं। श्रुतज्ञान दो प्रकार का है—अङ्ग-प्रविष्ट और अङ्ग-बाह्य। आचाराङ्ग आदि बारह अङ्ग और चौदह पूर्व अङ्ग-प्रविष्ट के अतर्गत आते हैं तथा सामायिक, कृतिकर्म आदि अङ्ग-बाह्य नामक श्रुत है। सारा श्रुतज्ञान दो रूपों में मिलता है—द्रव्यश्रुत और भावश्रुत। जो अक्षरात्मक द्वादशांग है वह द्रव्यश्रुत है तथा इसे सुनने से जो स्वानुभव या स्वसंवेदन ज्ञान उत्पन्न होता है वह भावश्रुत कहलाता है।

श्रुतावर्णवाद—“मदिरा, मास, मधु, रात्रिभोजन आदि पापाचरण शास्त्र-सम्मत है”—ऐसा कहना श्रुत का अवर्णवाद है।

श्रेयासनाथ—ग्यारहवे तीर्थकर। ये सिंहपुर नगर के इक्ष्वाकुवशी राजा विष्णु और रानी नन्दा के पुत्र थे। इनकी आयु चौरासी लाख वर्ष की थी। ऊचाई अस्सी धनुष थी। शरीर स्वर्ण के समान आभा वाला था। इन्होंने बयालीस लाख वर्ष तक राज्य किया। एक दिन वसन्त ऋतु के परिवर्तन को देखकर इन्हें वैराग्य हो गया और इन्होंने जिनदीक्षा ले ली। दो वर्ष की कठिन तपस्या के उपरान्त इन्हें केवलज्ञान हुआ। इनके सध में सतहत्तर गणधर, चौरासी हजार मुनि, एक लाख बीस हजार आर्यिकाएँ, दो लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाएँ थीं। इन्होंने सम्पेदशिखर से मोक्ष प्राप्त किया।

श्रोता—शास्त्र के अर्थ को ठीक-ठीक ग्रहण और धारण करने वाले विनयवान व सदाचारी पुरुष श्रेष्ठ श्रोता कहलाते हैं। श्रोता मुख्यतः तीन प्रकार के हैं—जो केवल सारभूत वस्तु को ग्रहण करते हैं वे हंस के समान उत्तम-श्रोता हैं। जो शास्त्र सुनते समय गीली मिट्टी के समान कोमल होते हैं बाद में कठोर परिणामी हो जाते हैं वे मध्यम श्रोता हैं। जो गुणों को छोड़कर सिर्फ अवगुण ग्रहण कर लेते हैं वे जीक के समान अधम-श्रोता हैं।

श्रोत्र-इन्द्रिय—जिसके द्वारा प्राणी सुनता है उसे श्रोत्र-इन्द्रिय कहते हैं।

स

सकल-दत्ति—अपने वश की प्रतिष्ठा के लिए अपने किसी योग्य पुत्र को कुल-पद्धति और धन के साथ अपना कुटुम्ब समर्पित करना सकल-दत्ति या अन्वयदत्ति कहलाता है।

सचित्त—आत्मा के चैतन्य विशेष परिणाम को चित्त कहते हैं। जो चित्त सहित है वह सचित्त कहलाता है। सूखने पर या अग्नि पर पकाये जाने पर वनस्पति आदि पदार्थ अचित्त या प्रासुक हो जाते हैं।

सचित्त-त्याग-प्रतिमा—प्रोषधोपवास नामक चौथी प्रतिमा धारण करने के उपरान्त कच्चे जल, फल-फूल आदि का त्याग करके प्रासुक जल, फल-फूल आदि ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करना श्रावक की पाचवी सचित्त-त्याग-प्रतिमा है।

सत्—1 सत् शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है। यहा सत् का अर्थ सत्त्व हे अर्थात् सत् शब्द अस्तित्व का वाचक है। गति, इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाओ में सम्यग्दर्शन आदि 'कहा है, कहा नहीं है' यह सूचित करने के लिए सत् का ग्रहण किया जाता है। 2 जो उत्पाद, व्यय और ध्रुव से युक्त है वह सत् है।

सत्कार-पुरस्कार-परीषह-जय—सत्कार का अर्थ पूजा-प्रशंसा है तथा क्रिया के आरम्भ आदि में आगे करना या निमन्त्रण देना पुरस्कार है। तपस्वी, ज्ञानवान और चिरकाल से दीक्षित होते हुए भी आदर सत्कार नहीं मिलने पर जो साधु मन को क्लुषित नहीं होने देता और समतापूर्वक अनादर को सहन करता है उसके सत्कार-पुरस्कार-

परीषह-जय होता है ।

सत्य—राग, द्वेष या मोह से प्रेरित सब प्रकार के झूठ वचनों का त्याग करना और आगम के अनुरूप बोलना सत्य महाव्रत है । 2 स्थूल झूठ का त्याग करना और जीवों का घात करने वाला सत्य-वचन भी नहीं बोलना सत्य-अणुव्रत है ।

सत्यधर्म—जो मुनि दूसरे को क्लेश पहुचाने वाले वचनों को छोड़कर अपने और दूसरे का हित करने वाले वचन कहता है उसके सत्यधर्म होता है । अथवा सज्जन पुरुषों के साथ श्रेष्ठ वचन बोलना सत्य-धर्म है ।

सत्य-प्रवाद—जिसमें वचन-गुप्ति, वचन-संस्कार के कारण, वचन-प्रयोग, वारह प्रकार की भाषाएँ, दस प्रकार के सत्य, वक्ता के प्रकार आदि का विस्तार से विवेचन है वह सत्य-प्रवाद पूर्व नाम का छठवा पूर्व है ।

सत्य-मन-वचन—यथार्थ या सत्य को जानने या कहने में जीव के मन और वचन की प्रयत्न रूप प्रवृत्ति को सत्य मन व वचन योग कहते हैं । जैसे—यथार्थ जल जिसमें स्नान किया जा सकता है जिसे पी सकते हैं । उसे ही जल जानना या जल कहना ।

सत्त्व—1 सत्त्व का अर्थ अस्तित्व है । 2 सत्त्व यह जीव का पर्यायवाची नाम है । 3 जो पूर्व संचित कर्म है उनका आत्मा में अवस्थित रहना सत्त्व कहलाता है । इसे सत्ता भी कहते हैं ।

सद्भूत-व्यवहार-नय—गुण और गुणी में भेद करके कथन करने वाला सद्भूत-व्यवहार-नय है । जैसे—आत्मा किसी को दिखाई नहीं देती किन्तु इसकी जानने देखने की शक्तिया अर्थात् गुण सबके अनुभव में आते हैं । अतः गुणों का अलग से नाम लेकर आत्मा के स्वरूप

और अस्तित्व का बोध कराना संभव होता है। यही इस नय का प्रयोजन है। यह दो प्रकार का है—अनुपचरित सद्भूत और उपचरित-सद्भूत।

सन्निधिकरण—सम्मुख या निकट होना सन्निधिकरण है। पूजा करते समय पूज्य पुरुष को अपने हृदय में बिठाना सन्निधिकरण कहलाता है।

सप्तभगी—प्रश्न के अनुसार एक ही वस्तु में जो बिना किसी विरोध के सत्, असत् आदि धर्मों का कथन किया जाता है उसे सप्तभगी कहते हैं। स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अस्ति-नास्ति, स्यात् अवक्तव्य, स्यात् अस्ति-अवक्तव्य, स्यात् नास्ति-अवक्तव्य और स्यात् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य—इस प्रकार वस्तु को जानने के लिए सात प्रकार के प्रश्न उठते हैं सो उनके उत्तर भी सात हैं। यही सप्तभगी है। जैसे 'कथंचित् घडा है' अर्थात् किसी अपेक्षा घडा है, इस प्रकार घडे के अस्तित्व सम्बन्धी सात प्रश्न और सात ही उत्तर संभव हैं। मुख्य और गौण की अपेक्षा से सभी को जानना सार्थक है।

सप्रतिष्ठित—देखिए प्रत्येक वनस्पति।

समचतुरस्र-सस्थान—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर सुडौल होता है उसे समचतुरस्र-शरीर-सस्थान-नामकर्म कहते हैं।

समता—शत्रु-मित्र में, सुख-दुख में, लाभ-अलाभ और जय-पराजय में, हर्ष-विषाद नहीं करना या साम्य भाव रखना समता है।

समदत्ति—जो आचार-विचार आदि में अपने समान अन्य उत्तम गृहस्थ है उसे विनयपूर्वक अपनी कन्या और धन-धान्य आदि देना समदत्ति है।

समन्तानुपात-क्रिया-स्त्री-पुरुष ओर पशुओं के आने-जाने या उठने-वेठने के स्थान में मल, मूत्र आदि करना समन्तानुपात-क्रिया है।

समभिरूढ-नय-जो शब्द के अनेक अर्थों को छोड़कर प्रधानता से एक ही रूढ अर्थ को ग्रहण करता है उसे समभिरूढ-नय कहते हैं। जैसे-‘गो’ शब्द के अनेक अर्थ हैं पर यह शब्द एक पशु विशेष के अर्थ में रूढ या प्रसिद्ध है। अतः यह नय उसे ही ग्रहण करता है। इस नय के अनुसार जो शब्द जिस अर्थ या पदार्थ के लिए प्रसिद्ध हो गया है वह शब्द हर अवस्था में उसी अर्थ या पदार्थ का वाचक होगा। जैसे-आठ उपवास करके मोक्ष जाने वाले मुनि को सदा अष्टोपवासी कहना।

समय-1. मद गति से एक परमाणु को आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक जाने में जितना काल लगता है, उसे समय कहते हैं। यह काल की इकाई है। 2. समय का अर्थ जीव या आत्मा है। १. समय का अर्थ आगम या मत भी है। स्व-समय और पर-समय ऐसे दो भेद समय के हैं। मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा को पर-समय और सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा को स्व-समय कहते हैं।

समवसरण-तीर्थकर की धर्मसभा को समवसरण कहते हैं। जहाँ समस्त स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी और देवी-देवता समान भाव से भगवान का उपदेश सुनते हैं अथवा जहाँ सभी भव्य जीव तीर्थकर की दिव्यध्वनि के अवसर की प्रतीक्षा करते हैं वह समवसरण है। सोधर्म इन्द्र की आज्ञा से कुवेर के द्वारा तीर्थकरों के योग्य समवसरण की रचना की जाती है।

समवायाङ्ग—जिसमे पदार्थों की समानता के आधार पर समवाय का विचार किया गया है वह समवायाङ्ग है। जैसे धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, लोकाकाश और एक जीव के समान रूप से असख्यात-प्रदेश होने के कारण समानता के आधार पर इन सबका द्रव्य रूप से समवाय कहा जाता है। इसी प्रकार यथायोग्य क्षेत्र, काल व भाव रूप समवाय भी जानना चाहिए।

समाचार—साधुओं के द्वारा परस्पर जो विनय आदि व्यवहार किया जाता है उसे समाचार या समाचारी कहते हैं। अथवा सभी साधुओं का जो एक समान अहिंसा आदि रूप आचरण है उसे समाचार कहते हैं।

समादान-क्रिया—सयमी का असयम के अभिमुख होना समादान-क्रिया है।

समाधि—वीतराग-भाव से आत्मा का ध्यान करना समाधि है। अथवा समस्त विकल्पों का नष्ट हो जाना परम समाधि है।

समाधिमरण—देखिए सल्लेखना।

समारम्भ—कार्य के योग्य साधनों को इकट्ठा करना समारम्भ है।

समिति—प्राणियों को पीडा न पहुँचे ऐसा विचार कर दया-भाव से सावधानीपूर्वक सभी प्रवृत्ति करना समिति कहलाती है। ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और प्रतिष्ठापन—ये पाँच समितियाँ हैं।

समुद्घात—वेदना आदि के निमित्त से मूल शरीर को नहीं छोड़ते हुए जो जीव के कुछ आत्म-प्रदेश शरीर से बाहर निकलते हैं उसे समुद्घात कहते हैं। समुद्घात सात प्रकार का है—कैवली-समुद्घात, वेदना-

समुद्घात, कषाय-समुद्घात, तैजस-समुद्घात, मारणान्तिक-समुद्घात, विक्रिया-समुद्घात और आहारक-समुद्घात ।

सम्भवनाथ—तीसरे तीर्थकर । श्रावस्ती नगरी के राजा दृढराज इनके पिता थे और रानी सुषेणा मा थी । इनकी आयु साठ लाख वर्ष पूर्व थी । शरीर चार सो धनुष ऊंचा था । चिरकाल तक राज्य करने के उपरान्त एक दिन मंघो का विलय देखकर ससार से विरक्त हो गए और पुत्र को राज्य देकर जिनदीक्षा ग्रहण कर ली । चौदह वर्ष तक तपस्या के फलस्वरूप इन्हें केवलज्ञान हुआ । इनके सघ में चारुदत्त आदि एक सो पाच गणधर, दो लाख मुनि, तीन लाख आर्यिकाएँ, तीन लाख श्रावक और पाच लाख श्राविकाएँ थीं । इन्होंने सम्पेदशिखर से मोक्ष प्राप्त किया ।

सम्भावना-सत्य—जैसी इच्छा रखे वैसे कर सके यह सम्भावना-सत्य कहलाता है । जैसे—इन्द्र इच्छा करे तो जम्बूद्वीप को पलट सकता है यह सम्भावना सत्य है ।

सम्पत्ति-सत्य—बहुत लोगों के द्वारा माना गया जो नाम आदि है वह सम्पत्ति-सत्य कहलाता है । जैसे—राजा की स्त्री को रानी या देवी कहना ।

सम्पूच्छन-जन्म—जा स्वयमेव वातावरण में सब ओर से शरीर के योग्य पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण करके जीवों का जन्म होता है वह सम्पूच्छन जन्म है । एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक सभी तिर्यचो का और किन्हीं संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यचो व मनुष्यों का भी सम्पूच्छन जन्म होता है ।

सम्यक्-चारित्र—ससार की कारणभूत बाह्य और अतरंग क्रियाओं से निवृत्त होना सम्यक्-चारित्र है। बाह्य और अभ्यंतर निवृत्ति की अपेक्षा अथवा निश्चय व व्यवहार की अपेक्षा चारित्र दो प्रकार का है। कर्मों के उपशम आदि की अपेक्षा औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक के भेद से चारित्र तीन प्रकार का है। सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार-विशुद्धि, सूक्ष्म-साम्पराय ओर यथाख्यात-चारित्र के भेद से चारित्र पांच प्रकार का है। सम्यक्त्वाचरण-चारित्र और स्वरूपाचरण-चारित्र ऐसे दो भेद भी चारित्र के किए गए हैं।

सम्यक्त्व-क्रिया—चैत्य, गुरु और शास्त्र की पूजा आदि रूप सम्यक्त्व को बढ़ाने वाली सम्यक्त्व-क्रिया है।

सम्यक्त्वाचरण-चारित्र—जिनेन्द्र भगवान के प्रति सच्ची श्रद्धा होने पर जो सहज सदाचार रूप क्रिया होती है उसे सम्यक्त्वाचरण-चारित्र कहते हैं।

सम्यग्-मिथ्यात्व—देखिए मिश्रगुणस्थान।

सम्यग्-एकान्त—अनेक धर्मात्मक वस्तु के किसी एक धर्म का प्रधानता से कथन करना और शेष धर्मों का निषेध नहीं करना सम्यग्-एकान्त है।

सम्यग्ज्ञान—सम्यग्दर्शन के साथ होने वाले यथार्थ या समीचीन ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन-पर्ययज्ञान ओर केवलज्ञान—ये सम्यग्ज्ञान के पांच भेद हैं।

सम्यग्दर्शन—सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति श्रद्धान का नाम सम्यग्दर्शन है। अथवा जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे गए सात तत्त्वों के यथार्थ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। अथवा आत्मरुचि होना सम्यग्दर्शन

है। अथवा 'स्व-पर' का भेद-विज्ञान होना सम्यग्दर्शन है। उत्पत्ति की अपेक्षा निमग्न और अधिगमन ऐसे सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं। नय-विभाग की अपेक्षा निश्चय और व्यवहार ऐसे सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं। मिथ्यात्व कर्म के उपशम, क्षय या क्षयोपशम की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के तीन भेद हैं।

सरस्वती-जिनवाणी को सरस्वती कहते हैं।

सराग-चारित्र-देखिए व्यवहार-चारित्र।

सराग-सम्यक्त्व-देखिए व्यवहार-सम्यग्दर्शन।

सर्वज्ञ-सकल चराचर जगत का पत्यक्ष रूप से जानने वाले अर्हत व सिद्ध भगवान सर्वज्ञ कहलाते हैं।

सर्वार्थसिद्धि-वैमानिक देवों के पाँच अनुत्तर विमानों में से एक विमान का नाम सर्वार्थसिद्धि है। वहाँ रहने वाले सभी देव अहमिद्र कहलाते हैं और एक भवावतारी होते हैं अर्थात् मरणापरान्त एक मनुष्य भव पाकर मुक्त हो जाते हैं।

सर्वोपधि-ऋद्धि-जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु के शरीर के सब अवयव ओपधि रूप हो जाते हैं वह सर्वोपधि-ऋद्धि है।

सल्लेखना-जीवन का अंत निकट जानकर समतापूर्वक देह का परित्याग करना सल्लेखना कहलाती है। सल्लेखना का शब्दिक अर्थ है शरीर और कषाय को क्रमशः क्षीण करना। इसे समाधि-मरण भी कहते हैं। सल्लेखना तीन प्रकार से होती है—भक्त-प्रत्याख्यान, इंगिनीमरण और पायोपगमन।

सविपाक-निर्जरा—यथाकाल अर्थात् क्रम से परिपाक काल आने पर शुभाशुभ कर्म की जो फल देकर निवृत्ति होती है वह सविपाक-निर्जरा है।

संकल्प—स्त्री, पुत्र, सम्पत्ति आदि चेतन-अचेतन पदार्थों में 'ये मेरे हैं' ऐसी कल्पना करना संकल्प कहलाता है।

संकल्पी-हिंसा—'मैं इस जीव को मारूँ'—इस प्रकार के विचार से जो हिंसा होती है उसे संकल्पी-हिंसा कहते हैं।

संक्रमण—जो कर्म-प्रकृति पहले जीव के बधी थी उसका अन्य प्रकृति रूप परिणामन हो जाना संक्रमण कहलाता है। जीव के परिणामो के द्वारा पहले बाधी हुई कर्म प्रकृति बदलकर अन्य प्रकृति रूप हो जाती है, यही संक्रमण कहलाता है। संक्रमण पांच प्रकार से होता है—उद्वेलन-संक्रमण, विध्यात-संक्रमण, अध प्रवृत्त संक्रमण, गुणसंक्रमण और सर्वसंक्रमण।

संक्लेश—असाता वेदनीय कर्म के वध योग्य परिणाम को संक्लेश कहते हैं। या तीव्र कषाय रूप परिणाम का नाम संक्लेश है।

संक्षेप-सम्यग्दर्शन—जिनागम में कहे गये जीवादि पदार्थों को संक्षेप से सुनकर या जानकर जो सम्यग्दर्शन होता है उसे संक्षेप-सम्यग्दर्शन कहते हैं।

संख्या—सत् प्ररूपणा में जो पदार्थों का अस्तित्व कहा गया है उनके प्रमाण का वर्णन करने वाली संख्या है। संख्या से आशय भेदों की गणना से है।

यथाख्यात-चारित्र का घात करती है वह सज्वलन नामक कषाय है। सज्वलन कषाय क्रोध, मान, माया और लोभ के रूप में रहती है। सदंश-आहार के समय यदि साधु को कुत्ता आदि काट ले तो यह सदश नाम का अन्तराय है।

संभिन्न-श्रोतृत्व-ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु श्रोत्र-इन्द्रिय के उत्कृष्ट क्षेत्र से बाहर दशो दिशाओं में सख्यात योजन प्रमाण क्षेत्र में स्थित मनुष्य और तिर्यचो के बहुत प्रकार के शब्दों को सुनकर उनका एक साथ प्रत्युत्तर देने में समर्थ होता है उसे संभिन्न-श्रोतृत्व-ऋद्धि कहते हैं।

सयत-सम्यग्दर्शन और ज्ञानपूर्वक जो हिंसा आदि पाच पापों से पूर्णतः विरक्त है, ऐसे महाव्रती साधु को सयत करते हैं। शुभक्रियाओं से युक्त होने पर वह प्रमत्त-सयत और आत्मलीन होने पर अप्रमत्त-सयत कहलाते हैं।

सयतासयत—हिंसा आदि पाच पापों का स्थूल रूप से त्याग करने वाले अणुव्रती श्रावक को सयतासयत कहते हैं। अथवा जो भव्य जीव जिनेन्द्र भगवान् में श्रद्धा रखता है तथा त्रस जीवों की हिंसा से विरत है लेकिन स्थावर जीवों के घात से विरत नहीं है उसे सयतासयत कहते हैं। इसका दूसरा नाम विरताविरत या देशव्रती भी है।

संयम-धर्म—व्रत व समिति का पालन करना, मन-वचन-काय की अशुभ प्रवृत्ति का त्याग करना तथा इन्द्रियों को वश में रखना यह संयम-धर्म है। यह दो प्रकार का है—प्राणि-संयम और इन्द्रिय-संयम। सब जीवों की रक्षा करना प्राणि-संयम है तथा पाचों इन्द्रिय और मन

को नियंत्रित करना इन्द्रिय-सयम है।

सयमोपकरण—साधु के योग्य सयम का पालन करने में सहायक पिच्छिका को सयमोपकरण कहते हैं।

सयोजना-दोष—यदि साधु ठंडा भोजन गर्म जल से मिला कर ले और ठंडा जल गर्म भोजन से मिलाकर ग्रहण करे तो यह सयोजना नाम का दोष है।

सरम्भ—हिसा आदि कार्य में प्रयत्नशील होना सरम्भ है।

सवर—आस्रव का निरोध करना सवर कहलाता है। अथवा जिससे कर्म रुके वह कर्मों का रुकना सवर है। यह दो प्रकार का है—भाव सवर और द्रव्य सवर। आत्मा के जो सम्यग्दर्शन व व्रत सयम आदि रूप परिणाम कर्म के आगमन को रोकने में कारण हैं उसे भाव-सवर कहते हैं तथा कर्मों का रुकना द्रव्य-सवर है।

सवरानुप्रेक्षा—जिस प्रकार नाव के छिद्र बंद रहने पर यात्री सकुशल अपने गतव्य स्थान तक पहुँच जाते हैं, उसी प्रकार कर्मों के आने के द्वार को रोक देने पर जीव अपने मोक्ष रूपी लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं, इस प्रकार सवर के गुणों का बार-बार चिन्तन करना सवरानुप्रेक्षा है।

सवेग—दुःखमय संसार के आवागमन से सदा डरते रहना सवेग कहलाता है। अथवा धर्म व धर्म के फल में सदा उत्साह रखना सवेग है। अथवा पच-परमेष्ठी के प्रति प्रीति और धार्मिक जनो में अनुराग रखना सवेग है।

संवेगनी-कथा—पुण्य के फल की चर्चा करना संवेगनी-कथा है। यह कथा धर्म और धर्म के फल में अनुराग उत्पन्न कराने वाली है।

संवौषट्—जिनेन्द्र भगवान की पूजा करते समय आह्वानन के लिए संवौषट् नामक बीजाक्षर बोला जाता है। यह आमत्रण-वाचक बीजाक्षर है।

संव्यवहरण-दोष—साधु को आहार देने के लिए वर्तन आदि को शीघ्रता से बिना देखे उठाना संव्यवहरण-दोष है।

संशय—वस्तु के विषय में विरुद्ध अनेक धर्मों में से किसी एक का निश्चय नहीं कर पाना और संदेह में पड़ जाना संशय कहलाता है। जैसे—‘यह सीप है या चादी है’—ऐसा संदेह होना।

संशय-मिथ्यात्व—‘सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य ये तीनों मिलकर मोक्षमार्ग है या नहीं’—इस प्रकार किसी एक पक्ष का निश्चय नहीं होना संशय-मिथ्यात्व है। अथवा देव और धर्म के स्वरूप में ‘यह ठीक है या नहीं’ ऐसा निर्णय नहीं होना संशय-मिथ्यात्व है।

संश्लेष-सम्बन्ध—जो स्निग्ध वस्तुओं का या स्निग्ध और रूक्ष वस्तुओं का परस्पर बंध होता है वह संश्लेष सम्बन्ध है। जैसे—लाख व काष्ठ आदि का अथवा दूध और जल का परस्पर संश्लेष-सम्बन्ध है। इसी प्रकार अनादि काल से जीव और कर्म का परस्पर संश्लेष-सम्बन्ध है।

संसक्त—जो साधु मंत्र, वैद्यक और ज्योतिष से अपनी जीविका करता है और राजा आदि की सेवा करता है उसे संसक्त कहते हैं।

सात्विक-दान—जिस दान से अतिथि का हित हो, जिसमें सुपात्र का निरीक्षण स्वयं दाता के द्वारा किया गया हो और दाता में श्रद्धा आदि समस्त गुण हों वह सात्विक-दान है।

सादि-मिथ्यादृष्टी—सम्यग्दर्शन का प्राप्त करने के उपरान्त जो जीव गिरकर पुनः मिथ्यादृष्टि हो जाता है उसे सादि-मिथ्यादृष्टी कहते हैं।

साधक—जो श्रावक जीवन के अंत में शरीर, आहार आदि से ममत्व छोड़कर आत्म-शुद्धि के लिए समाधिमरण की साधना करता है उसे साधक कहते हैं।

साधन—1 जिसकी साध्य के साथ अन्यथानुपपत्ति है उसे साधन कहते हैं। आशय यह है कि साध्य के होने पर ही होना और साध्य के अभाव में नहीं होना—ऐसी साध्य के साथ जिसकी व्याप्ति है वह साधन है।
2 जिस निमित्त से वस्तु उत्पन्न होती है वह साधन है। इसे कारण भी कहते हैं।

साधारण-वनस्पति—जो एक शरीर बहुत जीवों का होता है वह साधारण-शरीर कहलाता है। ऐसा साधारण-शरीर जिन जीवों का है वे साधारण-जीव कहलाते हैं। साधारण शरीर में रहने वाले सभी जीवों का जन्म, मरण, श्वासोच्छवास और आहार आदि एक साथ होता है। जिस वनस्पति के आश्रित साधारण-जीव होते हैं वह साधारण-वनस्पति कहलाती है। प्रतिष्ठित-प्रत्येक-वनस्पति भी साधारण जीवों के द्वारा आश्रित होने के कारण उपचार से साधारण होती है। किसी वृक्ष की जड़ साधारण होती है, किसी का स्कन्ध, किसी की शाखाएँ, किसी के पत्ते, किसी के फूल, किसी के पर्व का

दूध और किसी के फल साधारण होते हैं। इस तरह किसी-किसी वृक्ष के मूल, पत्ते, स्कन्ध, फल, फूल आदि अलग-अलग साधारण होते हैं और किसी के मिले हुए पूर्ण रूप से साधारण होते हैं। मूली, अदरक, आलू, अरबी आदि सब मूल अर्थात् जड़े साधारण हैं। गन्ने के पर्व साधारण हैं। वृक्षों पर लगी कोपले सब साधारण हैं। पाच उदुम्बर-फल और ग्वोरफाठा की शाखाएँ साधारण हैं। चना, मेथी, बथुआ, पालक आदि कोई-कोई साधारण हैं।

साधारण-शरीर—जिस कर्म के उदय से बहुत जीवों के उपभोग के लिए एक ही साधारण शरीर होता है उसे साधारण-शरीर-नामकर्म कहते हैं।

साधु—निर्ग्रन्थ मुनि को साधु कहते हैं। जो घर-गृहस्थी सम्बन्धी समस्त आरम्भ परिग्रह और विषय-वासना का त्याग करके रत्नत्रय की आराधना करते हुए सयमित जीवन जीते हैं वे साधु हैं। साधु के अष्टादस मूलगुण होते हैं—पाच महाव्रत, पाच समिति, पाच इन्द्रिय-विजय, छह आवश्यक, अस्नान, अदन्तधोवन, भूमि-शयन, केशलुचन, स्थिति-भोजन, एक-भक्त और अचेलकत्व।

साधु-समाधि—व्रत व शील से सम्पन्न साधु के तप में किसी कारण से विघ्न आने पर उसे दूर करना साधु-समाधि कहलाती है। यह सोलह कारण भावना में एक भावना है।

सामायिक—समता-भाव रखना सामायिक है। अथवा सर्व सावद्य योग से निवृत्त होना सामायिक है। श्रावक और साधु दोनों को सामायिक करना आवश्यक है। श्रावक प्रतिदिन नियतकाल पर्यन्त व्रत या प्रतिमा के रूप में सामायिक का अभ्यास करता है। साधु का जीवन

ही समतामय हे फिर भी वह सदा समता रूप सामायिक-चारित्र का पालन करता हुआ प्रतिदिन सध्याकालो मे सामायिक नामक आवश्यक को विधिवत सम्पन्न करता है। नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से सामायिक छह प्रकार की है। सामायिक प्रतिदिन सुबह, दोपहर और शाम इन तीनों सध्याकालो मे कम से कम दो घड़ी अर्थात् अड़तालीस मिनिट और अधिकतम छह घड़ी तक की जाती है। सामायिक का प्रारम्भ और समापन करते समय प्रत्येक दिशा मे तीन-तीन आवर्त, एक-एक प्रणाम व एक-एक कायोत्सर्ग करना चाहिए तथा पूर्व या उत्तरमुख करके खड़े होकर या बैठकर प्रसन्नतापूर्वक सामायिक करना चाहिए।

सामायिक-चारित्र—सर्व सावद्य योग से निवृत्त होना और सदा समता-भाव रखना सामायिक-चारित्र है।

सामायिक-प्रतिमा—व्रत-प्रतिमा नामक दूसरी प्रतिमा धारण करने के उपरान्त विधिपूर्वक तीनों सध्याओ मे सामायिक करने की प्रतिज्ञा लेना यह श्रावक की तीसरी सामायिक-प्रतिमा कहलाती है।

सामायिक-व्रत—प्रतिदिन सध्याकालो मे कम से कम दो घड़ी पर्यन्त समस्त पाप कार्यों का त्याग करके पचपरमेष्ठी का चिन्तन करने की प्रतिज्ञा लेना सामायिक नाम का शिक्षाव्रत है।

सामायिक-श्रुत—समता-भाव के विधान का वर्णन करने वाला सामायिक नाम का अङ्गवाह्य-श्रुत है।

साम्परायिक-आस्रव—सम्पराय का अर्थ कषाय है। कषाय सहित होने वाले आस्रव को साम्परायिक-आस्रव कहते हैं।

सावद्य—मन, वचन व काय के द्वारा होनेवाली हिसाजनक क्रिया को सावद्य कहते हैं। कृषि, व्यापार आदि छह सावद्य कर्म माने गए हैं। पूजा, अभिषेक आदि यद्यपि सावद्य हैं परन्तु धर्मध्यान में सहकारी और पुण्य रूप होने से श्रावक के लिए ग्राह्य हैं।

सासादन-सम्यक्त्व—उपशम-सम्यक्त्व से पतित होकर जीव जब तक मिथ्यात्व में नहीं आता तब तक उसे सासादन-सम्यग्दृष्टी जानना चाहिए। यह सासादन-सम्यक्त्व नामक दूसरा गुणस्थान है।

साव्यवहारिक-प्रत्यक्ष—इन्द्रिय और मन के द्वारा जो ज्ञान होता है उसे साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। लोक-व्यवहार में इसे प्रत्यक्ष कहा है परन्तु यह परोक्ष-ज्ञान है।

सिद्ध—समस्त आठ कर्मों के बन्धन को जिन्होंने नष्ट कर दिया है ऐसे नित्य निरजन परमात्मा ही सिद्ध कहलाते हैं।

सिद्धि—सिद्धि का अर्थ प्राप्ति या उपलब्धि है। आत्मस्वरूप की प्राप्ति होना सिद्धि है। अथवा जो जीवों के हित की साधक होती है उसे सिद्धि कहते हैं।

सुख—सुख आह्लाद रूप होता है। वह दो प्रकार का है—इन्द्रिय-सुख और अतीन्द्रिय-सुख। इन्द्रिय-विषयों में प्रीति का अनुभव होना इन्द्रिय-सुख है। आत्म-स्वरूप के अनुभव से उत्पन्न और रागादि विकल्पो से रहित निराकुलता रूप अतीन्द्रिय सुख है।

सुन्दरी—तीर्थंकर ऋषभदेव की पुत्री थी। अपने पिता से इन्होंने अकविद्या सीखी। अल्प-वय में ही विरक्त होकर भगवान् ऋषभदेव

स दीक्षा लेकर आर्यिका का पद पाया ।

सुपार्श्वनाथ—सातव तीर्थकर । वाराणसी नगरी के राजा सुप्रतिष्ठ की रानी पृथिवीपेणा के यहां इनका जन्म हुआ । इनकी आयु बीस लाख वर्ष पूर्व की थी । शरीर दो मां धनुष ऊंचा था । शरीर का वर्ण प्रियंगु पुष्प के समान था । एक दिन अचानक इन्हें वैराग्य हुआ और जिनदीक्षा ले ली । नौ वर्ष की कठिन तपस्या के उपरान्त इन्हें कवलज्ञान हुआ । इनके सघ में पचानव गणधर, तीन लाख मुनि, तीन लाख तीस हजार आर्यिकाएँ, तीन लाख श्रावक और पाच लाख श्राविकाएँ थीं । इन्होंने सम्मोदशिखर से मोक्ष प्राप्त किया ।

सुभग-नामकर्म—जिस क्रम के उदय से अन्यजन प्रीतिकर अवस्था प्राप्त होते हैं वह सुभग-नामकर्म है । अधवा स्त्री और पुरुषों के मोभाग्य का उत्पन्न करनेवाला सुभग-नामकर्म है ।

सुमतिनाथ—पाचव तीर्थकर । आयोध्या नगरी के राजा मेघरथ और रानी मगला के यहां जन्म लिया । इनकी आयु चालीस लाख वर्ष पूर्व थी । शरीर तीन मां धनुष ऊंचा और स्वर्ण के समान कान्तिवाला था । राज्य करते हुए एक दिन अचानक इन्हें वैराग्य उत्पन्न हुआ और जिनदीक्षा ले ली । बीस वर्ष की कठिन तपस्या के उपरान्त इन्हें कवलज्ञान हुआ । इनके सघ में एक सौ सोलह गणधर, तीन लाख बीस हजार मुनि, तीन लाख तीस हजार आर्यिकाएँ, तीन लाख श्रावक और पाच लाख श्राविकाएँ थीं । इन्होंने सम्मोदशिखर से मोक्ष प्राप्त किया ।

सुमेरु—यह मध्यलोक का प्रसिद्ध पर्वत है। जो विदेह क्षेत्र के मध्यभाग में स्थित है। यह पर्वत तीर्थकरों के जन्माभिषेक की पीठिका के रूप में प्रसिद्ध है क्योंकि इसके शिखर पर पाण्डुक वन में स्थित पाण्डुक शिला आदि चार शिलाओं पर भरत, ऐरावत तथा विदेह क्षेत्र सम्बन्धी सभी तीर्थकरों का जन्माभिषेक होता है। इसके मेरु, महामेरु, मन्दर और सुदर्शन आदि अनेक नाम हैं। जम्बूद्वीप में एक, धातकी खण्ड में दो और पुष्करार्ध द्वीप में दो ऐसे कुल पाच मेरु हैं। प्रत्येक मेरु पर सोलह जिनालय होने से पचमेरु सम्बन्धी कुल अस्सी जिनालय हैं।

सुषमा—अवसर्पिणी के द्वितीय-काल और उत्सर्पिणी के पचम-काल का नाम सुषमा है। अवसर्पिणी के इस द्वितीय काल में मनुष्यों की ऊँचाई दो कोस और आयु दो पत्य होती है। मनुष्य दो दिन छोड़कर तीसरे दिन बहेड़ा के बराबर आहार ग्रहण करते हैं। इस काल में उत्पन्न बालक-बालिका का युगल शय्या पर सोते हुए पाच दिन व्यतीत करता है फिर शेष सभी योग्यताएँ क्रमशः पाच-पाच दिन व्यतीत होने पर प्राप्त होती हैं और पैंतीस दिन में पूर्ण यौवन और कला से सम्पन्न हो जाता है। इसके अतिरिक्त शेष सभी बातें सुषमा-सुषमा काल के समान होती हैं। तीन कोंडा-कोंडी सागर प्रमाण इस सुषमा काल में मनुष्यों की आयु, बल, ऊँचाई आदि उत्तरोत्तर घटती जाती है। उत्सर्पिणी के सुषमा नामक पचम काल में मनुष्यों की आयु, बल, ऊँचाई आदि क्रमशः बढ़ती जाती है और शेष सभी बातें अवसर्पिणी के सुषमा नामक द्वितीय काल के समान हैं।

सुषमा-दुषमा—अवसर्पिणी के तृतीय काल और उत्सर्पिणी के

चतुर्थकाल का नाम सुषमा-दुषमा है। अवसर्पिणी के इस तृतीय काल में मनुष्य की ऊँचाई एक कोस और आयु एक पल्य होती है। मनुष्य एक दिन टाडकर दूसरे दिन आवला के बराबर आहार ग्रहण करता है। इस काल में उत्पन्न बालक-बालिका का युगल शय्या पर साते हुए सात दिन व्यतीत करता है। फिर शेष सभी योग्यताएँ क्रमशः सात-सात दिन व्यतीत होने पर प्राप्त होती हैं और उनचास दिन में पूर्ण जीवन और कला से सम्पन्न हो जाता है। इसके अतिरिक्त शेष सभी बातें सुषमा-दुषमा नामक प्रथम काल के समान होती हैं। तीन काड़ा-क्रोड़ी-मागर प्रमाण इस तृतीय काल में मनुष्यों की ऊँचाई, बल और आयु उत्तरोत्तर घटते जाते हैं। जब इस तृतीय काल में पल्योपम का आठवाँ भाग मात्र काल शेष रह जाता है तब कुलकरो की उत्पत्ति प्रारम्भ होती है और क्रमशः चौदह कुलकर होते हैं। अंतिम कुलकर की आयु एक कोटि वर्ष पूर्व और शरीर की ऊँचाई पाँच सो धनुष होती है। उस समय कल्पवृक्ष नष्ट हो जाते हैं। यही भोगभूमि के समापन और कमभूमि के प्रारम्भ का काल है। उत्सर्पिणी के इस चतुर्थकाल के प्रारम्भ में मनुष्यों की आयु एक कोटि वर्ष पूर्व होती है और ऊँचाई पाँच सो धनुष प्रमाण होती है। जो क्रमशः बढ़ती जाती है इस काल में कल्पवृक्षों की उत्पत्ति हो जाती है और शेष सभी बातें अवसर्पिणी के तृतीय काल के समान होती हैं। अतः मनुष्यों की आयु बढ़ते-बढ़ते एक पल्य और ऊँचाई एक कोस तक हो जाती है।

सुषमा-दुषमा-अवसर्पिणी के प्रथम काल और उत्सर्पिणी के छठवें काल का नाम सुषमा-दुषमा है। अवसर्पिणी के इस प्रथम काल में भूमि धूल, धूम, कटक आदि से रहित होती है। चींटी, विच्छू, मक्खी

आदि विकलत्रय जीवों की उत्पत्ति नहीं होती है। मधुर गन्ध वाली मिट्टी और अच्छे प्रकार की घास होती है। निर्मल जल से युक्त सरोवर और नदियाँ होती हैं। असंजी जीव और परस्पर वेर रखने वाले हिसक जीव नहीं होते। दुराचार और व्यसन नहीं होते। इस काल में उत्पन्न होने वाले मनुष्यों की ऊँचाई तीन कोस और आयु तीन पत्न्य होती है। इनके शरीर मलमूत्र और पसीने से रहित तथा अत्यंत सुंदर, सुदृढ़ और सुडोल होते हैं। इस काल में उत्पन्न होने वाले बालक-बालिका के युगल शय्या पर सोते हुए तीन दिन व्यतीत करते हैं फिर बैठना, अस्थिर गमन, स्थिर गमन, कलागुणों की प्राप्ति, तारुण्य और सम्यग्दर्शन प्राप्ति की योग्यता—इन प्रत्येक अवस्थाओं में क्रमशः तीन-तीन दिन व्यतीत करके इक्कीस दिन में पूर्ण यौवन और कला से संपन्न हो जाते हैं। इस काल में परिवार, ग्राम, नगर आदि नहीं होते। केवल दस प्रकार के कल्पवृक्ष होते हैं जो प्रत्येक युगल को अपने-अपने मन की कल्पित वस्तुएं दिया करते हैं। कल्पवृक्षों से प्राप्त वस्तुओं को ग्रहण करके और विक्रिया के द्वारा भी अनेक प्रकार के भोगों को भोगते हुए यहाँ के जीव चक्रवर्ती के भोगों की अपेक्षा अनन्तगुणा विषय-सुख पाते हैं। मनुष्य तीन दिन के अंतराल से चौथे दिन वेर के बराबर अल्पाहार ग्रहण करते हैं। मनुष्य की नौ माह की आयु शेष रहने पर स्त्रियों को गर्भ रहता है और युगल बालक-बालिका का जन्म होता है। सतान का जन्म होत ही माता-पिता का मरण हो जाता है। मरण के समय पुरुष को लीक और स्त्री को जमाई आती है और शरीर में क समान विलीन हो जाता है। इस काल में गाय, भिह, हाथी आदि उत्तम निर्यचों के युगल परस्पर नर भाव के बिना मधुर घाम को खाकर मुखपूर्वक जीवन

व्यतीत करत है। चार काडाकोड़ी सागर प्रमाण इस प्रथम काल में शरीर की ऊँचाई, आयु, बल आदि उत्तरात्तर बढ़ते जाते हैं। उत्सर्पिणी के सुपमा-सुपमा नामक इस छठवें काल में शेष सभी बातें अवसर्पिणी के सुपमा-सुपमा नामक प्रथम काल के समान होती हैं। विशेषता यह है कि उत्सर्पिणी-काल में आयु, बल, ऊँचाई आदि उत्तरात्तर बढ़ती जाती हैं।

सुखर-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से मधुर आवाज या सुरीला कण्ठ प्राप्त होता है उसे सुखर-नामकर्म कहते हैं।

सूक्ष्म—1. जो परस्पर और अन्य स्थूल स्क्वों के साथ व्याघात या बाधा को प्राप्त नहीं होते वे सूक्ष्म-स्क्व हैं जैसे कर्म वर्गणा आदि।
2. जिनकी गति का जल, स्थल आदि के द्वारा प्रतिघात नहीं होता वे सूक्ष्म-जीव हैं।

सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाती—यह शुक्ल ध्यान की तीसरी अवस्था है। जिन्होंने द्वितीय शुक्ल ध्यान के द्वारा चार घातिया कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त कर लिया है ऐसे केवली भगवान जब आयु का अन्तमुहूर्त काल शेष रहता है तब सब प्रकार के वचनयोग, मनोयोग और वादर काययोग का निरोध करके सूक्ष्म काययोग का आलवन लेकर जो ध्यान करते हैं वह सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाती-ध्यान है।

सूक्ष्मत्व—इन्द्रिय गोचर न होना सूक्ष्मत्व गुण है। यह सिद्धो के आठ मूलगुणों में एक है जो नामकर्म के क्षय होने पर प्रगट होता है।

सूक्ष्म-नामकर्म—जिसके उदय से जीव को सूक्ष्म शरीर प्राप्त होता है उसे सूक्ष्म नामकर्म कहते हैं।

सूक्ष्म-साम्पराय-सूक्ष्म कषाय को सूक्ष्म-साम्पराय कहते हैं। जिस चारित्र में कषाय अति सूक्ष्म हो जाती है वह सूक्ष्म-साम्पराय-चारित्र है। मोहकर्म का उपशमन या क्षपण करने वाले जिस साधु के मात्र सञ्चलन-लोभ रूप सूक्ष्म कषाय शेष रह जाती है वह सूक्ष्म-साम्पराय-सयत कहलाता है।

सूक्ष्म-सूक्ष्म-पुद्गल के मात्र दो परमाणु रूप स्कन्ध को सूक्ष्म-सूक्ष्म कहते हैं।

सूक्ष्म-स्थूल-जो आख से दिखाई नहीं देते किन्तु शेष चार इन्द्रियो से ग्रहण किये जा सकते हैं ऐसे स्कन्धो को सूक्ष्म-स्थूल कहते हैं। जैसे-वायु, शब्द, गन्ध आदि।

सूतक-लोक व्यवहार में जन्म-मरण के निमित्त से हुई अशुद्धि के शोधन को सूतक कहते हैं। सूतक काल में देव-पूजा, आहार-दान आदि कार्य नहीं किया जाता।

सूत्र-1 जो ग्रन्थ, तन्तु और व्यवस्था इन तीन अर्थों को सूचित करता है उसे सूत्र कहते हैं। या जो भले प्रकार से अर्थ को सूचित करे उस बहुअर्थ गर्भित रचना को सूत्र कहा जाता है। 2 'जीव अकर्ता ही है', 'अभोक्ता ही है', 'सर्वगत ही है' इत्यादि कल्पनायुक्त तीन सो तिरैसठ मिथ्या मतों का जिसमें वर्णन किया गया है वह सूत्र नाम का दृष्टिवाद अङ्ग का एक भेद है।

सूत्रकृताङ्ग-‘क्या कल्प है और क्या अकल्प है’ तथा छेदोपस्थापना आदि व्यवहार धर्म की क्रियाओं का जिसमें वर्णन है वह सूत्रकृताङ्ग है।

सूत्र-सम्यग्दर्शन—मुनियों के दीक्षादि का वर्णन करने वाले आचाराङ्ग आदि आचार-सूत्र को मुनिकर जो सम्यग्दर्शन हाता है उसे सूत्र-सम्यग्दर्शन कहते हैं।

सूना—आखिली, चक्की, चूल्हा, बूहागे और जल रखने का स्थान—ये गृहस्थ के उपयोग में आने वाले पच-सूना हैं। आहार शुद्धि के लिये इन पाच स्थानों को स्वच्छ तथा जीव-जन्तु से रहित रखना आवश्यक है।

सूर्य-प्रज्ञप्ति—जिसमें सूर्य की आयु, परिवार, गति, विषय की ऊँचाई आदि का वर्णन है उसे सूर्य-प्रज्ञप्ति कहते हैं।

सौम्या-वाचना—व्याकरण सबको श्रवणों की ओर ध्यान न देने हुए सरल और मुवाच व्याख्या करना सौम्या-वाचना है।

स्कन्ध—जिन परमाणुओं में परस्पर वध हो चुका है वे स्कन्ध कहलाते हैं या स्थूल रूप से पकड़ने, रखने आदि रूप व्यापार जिनमें वे स्कन्ध हैं। पृथ्वी, जल, प्रकाश, छाया आदि सभी पुद्गल स्कन्ध हैं। स्कन्ध के छह भेद हैं—स्थूल-स्थूल, स्थूल, स्थूल-सूक्ष्म, सूक्ष्म-स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्म-सूक्ष्म।

स्तव—चाँचीस तीर्थकरों के गुणों का कीर्तन करना स्तव कहलाता है। इसे चतुर्विंशति स्तवन या स्तुति भी कहते हैं। नाम, स्थापना, द्रव्य, धर्म, काल और भाव—ये छह स्तव के भेद हैं।

स्तिबुक् सक्रमण—गति, जाति आदि पिंड प्रकृतियों के उदय आने पर शेष अनुदय प्राप्त प्रकृतियों जो उसी प्रकृति में सक्रमित होकर उदय में आती हैं उसे स्तिबुक्-सक्रमण कहते हैं। जैसे—एकेन्द्रिय जीवों के

उदय प्राप्त एकेन्द्रिय जाति नामकर्म मे अनुदय प्राप्त द्वीन्द्रिय जाति आदि का सम्प्रमित होना ।

स्त्यानगृद्धि—जिसके निमित्त से स्वप्न अवस्था मे विशेष शक्ति प्रगट होती हे ओर जीव सोता हुआ भी कार्य करता है उसे स्त्यानगृद्धि कहते हे ।

स्त्री-परीषह-जय—एकान्त उद्यान या भवन आदि स्थानो मे यौवन से उन्मत्त स्त्रियो के द्वारा बाधा पहुचाये जाने पर भी जो साधु कामविकार से विचलित नही होता उसके यह स्त्री-परीषह-जय कहलाता है ।

स्त्री-वेद—जिस कर्म के उदय से पुरुष के प्रति मैथुन या कामसेवन का भाव होता हे वह भाव स्त्री-वेद कहलाता है ।

स्थलगता-चूलिका—जिसमे पृथिवी के भीतर गमन करने के कारणभूत मन्त्र-तन्त्र और तपश्चरण का और वास्तुविद्या तथा भूमि सवधी अन्य शुभाशुभ के कारणो का वर्णन किया हे उसे स्थलगता-चूलिका कहते हे ।

स्थविर-कल्प—समस्त वस्त्र आदि परिग्रह का परित्याग करके दिगम्बर होना, पिच्छी कमण्डलु रखना, पाच महाव्रत, पाच समिति, पाच इन्द्रिय विजय आदि अष्टाईस मूलगुणो को धारण करना, हीन सहनन होने के कारण गाव, नगर आदि मे रहना, जिसमे चारित्र भग न हो ऐसे उपकरणो को रखना, जो जिसके योग्य हो उसे पुस्तक देना, समुदाय के रूप मे विहार करना, भव्यो को धर्म सुनाना व शिष्यो का पालन करना, यह सब हीन सहनन वाले साधुओ के योग्य स्थविर-कल्प हे ।

स्थिति-1 किसी क्षेत्र में स्थित पदार्थ की काल मर्यादा निश्चित करना स्थिति है। 2 कर्म रूप से परिणत हुए पुद्गल स्कन्धों का कर्मपने को न छोड़ते हुए जीव के साथ रहना स्थिति है। 3 आयु कर्म के उदय से जीव का उस भव विशेष में शरीर के साथ रहना स्थिति कहलाती है।

स्थितिकरण—धर्म से विचलित होते हुए जीवों को या स्वयं को धर्म में पुनः दृढ़ करना स्थितिकरण अङ्ग है। यह सम्यग्दृष्टि जीव का एक गुण है।

स्थिति-बन्ध—अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हुए जितने काल तक कर्म आत्मा के साथ बन्धे रहते हैं उसे स्थिति-बन्ध कहते हैं। मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति 70 कोड़ा-कोड़ी सागर तथा जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय की उत्कृष्ट स्थिति 30 कोड़ा-कोड़ी सागर तथा जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त (सिर्फ वेदनीय की जघन्य स्थिति 12 मुहूर्त) है। नाम व गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति 20 कोड़ा-कोड़ी सागर और जघन्य स्थिति 8 मुहूर्त है। आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति 33 सागर एवं जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है।

स्थिति-भोजन—दीवाल आदि का सहारा न लेकर स्वयं स्थिर खड़े रहकर अपनी अजली में आहार ग्रहण करना स्थिति-भोजन कहलाता है। यह साधु का एक मूलगुण है।

स्थिर-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से उपवास आदि तप करने पर भी शरीर में वात, पित्त व कफ की स्थिरता बनी रहती है और शरीर

कमजोर या अशक्त नगी होता उग स्थिर-नामकर्म कहते हैं।

स्थूल-ना छदन-भदन कर्म पर स्थूल जुड़ मरुते हैं ऐसे घी, तेल, पानी आदि स्थूल स्क्व कहलाते हैं।

स्थूल-सूक्ष्म-जा नभु इन्द्रिय के दाग प्राप्त होकर भी अन्य इन्द्रियों से गठन नगी स्थि जा मरुत गग टाया, घृष, चानों आदि स्थूल-सूक्ष्म स्क्व कहलाने हैं।

स्थूल-स्थूल-जा दहन पर स्थूल नहीं जुड़ मरुते ऐसे काष्ठ-पत्थर आदि स्थूल-स्थूल स्क्व कहलाने हैं।

स्नातक-जिनक धातिया कम नष्ट हो चुके हैं ऐसे अर्हन्त भगवान् स्नातक कहलाते हैं।

स्पर्शन-1. जिसक दाग स्पश किया जाता है उसे स्पर्शन इन्द्रिय कहते हैं। 2. जीव का तौना काल में रहा तक जाना-आना समय है यह स्पशन नाम का अनुवाग-द्वार है।

स्पर्शन-क्रिया-पमादवश स्पश करने योग्य संचेतन वस्तु का अनुवध स्पशन-क्रिया है।

स्पर्श-नामकर्म-जिस कर्म के उदय से शरीर में ठंडा, गरम आदि स्पर्श उत्पन्न होता है उस स्पर्श नामकर्म कहते हैं। यह आठ प्रकार का है-स्निग्ध, रुक्ष, मृदु, कठोर, शीत, उष्ण, हल्का और भारी।

स्याद्वाद-स्यात् का अर्थ है सापेक्ष या कथंचित्। वाद का अर्थ है कथन। अतः अनेक धर्मात्मक वस्तु के पत्येक धर्म का सापेक्ष रूप से कथन करने की शैली का नाम स्याद्वाद है।

स्वच्छन्द—देखिए मृगचारी ।

स्वदार-सन्तोषव्रत—अपनी विवाहित स्त्री में ही सतुष्ट रहना और शेष स्त्रियों के प्रति माता, वहिन और पुत्रीवत् निर्मल भाव रखना स्वदार सतोषव्रत कहलाता है । इसे ब्रह्मचर्याणुव्रत भी कहते हैं ।

स्वप्न-निमित्त—स्वप्न के माध्यम से शुभाशुभ को जान लेना स्वप्न-निमित्त-ज्ञान कहलाता है ।

स्वभाव—वस्तु का असाधारण और शाश्वत धर्म ही उसका स्वभाव कहलाता है । जैसे—जीव का स्वभाव चेतना या जानना-देखना है ।

स्वभाव-पर्याय—‘पर’ निमित्त के बिना जो पर्याय हंती है वह स्वभाव पर्याय कहलाती है । जैसे—जीव की सिद्ध पर्याय स्वभाव पर्याय है ।

स्वयभू—जो जीव परोपदेश के बिना स्वय ही मोक्षमार्ग को प्राप्त कर लेते हैं उन्हें स्वयभू या स्वयबुद्ध कहते हैं ।

स्वयभूरमण—मध्यलोक के अंतिम द्वीप और अंतिम समुद्र का नाम स्वयभूरमण है । स्वयभूरमण समुद्र में सञ्जी पचेन्द्रिय जलचर जीव पाए जाते हैं ।

स्वर-निमित्त—मनुष्य व तिर्यचो के विचित्र शब्दों को सुनकर शुभाशुभ को जान लेना स्वर-निमित्त-ज्ञान कहलाता है ।

स्वरूपाचरण-चारित्र—समस्त रागद्वेष से रहित अपने आत्मस्वरूप में लीनता रूप चारित्र को स्वरूपाचरण-चारित्र कहते हैं । यह निर्विकल्प समाधि का अविनाभावी है ।

स्वर्ग—उर्ध्वलोक में रहने वाले वैमानिक देवों के निवास स्थान को स्वर्ग कहते हैं। स्वर्ग के दो विभाग हैं—कल्प और कल्पातीत।

स्वस्तिक—卐 यह पवित्र और कल्याणकारी चिह्न है। इसका उपयोग मंगल कार्यों में होता है।

स्वस्थान अप्रमत्त—देखिए अप्रमत्त।

स्वहस्त-क्रिया—जो क्रिया दूसरों के द्वारा करने की हो उसे स्वयं अपने हाथ से कर लेना स्वहस्त-क्रिया है।

स्वातिसंस्थान-नामकर्म—स्वाति का अर्थ सर्प की वाम्बी या शाल्मली वृक्ष है। जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर स्वाति के समान आकार का होता है उसे स्वाति-संस्थान-नामकर्म कहते हैं।

स्वाद्य—मुख का स्वाद बदलने के लिये खाये जाने वाले लोग, इलायची आदि पदार्थ स्वाद्य कहलाते हैं।

स्वाध्याय—आत्महित की भावना से सत्-शास्त्र का वाचन करना, मनन करना या उपदेश आदि देना स्वाध्याय है। अथवा आलस्य छोड़कर ज्ञान की आराधना में तत्पर रहना स्वाध्याय नाम का तप है। स्वाध्याय के पांच भेद हैं—वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश।

स्वामित्व—स्वामित्व का अर्थ आधिपत्य है। अथवा स्वामी का अर्थ अधिष्ठाता या प्रयोक्ता है।

स्वाहा—यह शान्तिवाचक बीजाक्षर है। पूजा में द्रव्य चढ़ाते समय इसका प्रयोग किया जाता है।

ह

हास्य—जिस कर्म के उदय से जीव के हास्य (हसी) रूप भाव उत्पन्न होता है उसे हास्य कहते हैं।

हिंसा—प्रमाद के वशीभूत होकर जीव के प्राणों का वियोग करना या उसे पीड़ा पहुँचाना हिंसा है। सकल्पी, आरम्भी, विरोधी और उद्योगी—ऐसी चार प्रकार की हिंसा है। द्रव्य-हिंसा और भाव-हिंसा, इन दो रूपों में हिंसा होती है। मारना या पीड़ा पहुँचाना द्रव्य-हिंसा है तथा मारने या पीड़ा पहुँचाने का विचार करना भाव-हिंसा है।

हिंसादान—हिंसा के कारणभूत अस्त्र-शस्त्र, अग्नि आदि उपकरणों को देना हिंसादान नामक अनर्थदण्ड है।

हिंसानन्दी-रौद्रध्यान—तीव्र कषाय के वशीभूत होकर जीवसमूह को स्वयं मारने में या दूसरे के द्वारा मारे जाने में हर्षित होना और सदा हिंसा के कार्यों में मन लगाए रखना हिंसानन्दी नामक रौद्रध्यान है।

हुण्डक-संस्थान—विषम या बेडौल आकृति को हुड कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर वेडौल होता है उसे हुण्डक शरीर-संस्थान नामकर्म कहते हैं।

हुण्डावसर्पिणी—असंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल बीत जाने पर एक हुण्डावसर्पिणी काल आता है। इसमें कई बातें असामान्य होती हैं। जैसे—तृतीय काल में तीर्थंकर व चक्रवर्ती का उत्पन्न होना, चक्रवर्ती का मान भग्न होना, तीर्थंकर पर उपसर्ग होना, अयोध्या के सिंवाय अन्यत्र भी तीर्थंकरों का जन्म होना, सम्मेलनशिखर के अलावा

अन्य स्थानों से तीर्थकर का मोक्ष जाना आदि ।

हेय—जा पदार्थ छोड़ने योग्य है वे हेय कहलाते हैं ।

हीं—यह चौबीस तीर्थकर वाचक वीज-पद है । यह एकाक्षरी मन्त्र है ।
पदस्थ ध्यान में इसका उपयोग होता है । इसे मायावीज भी कहते हैं ।

परिशिष्ट

● चौसठ ऋद्धियां—

1 बुद्धि ऋद्धि (18)

केवलज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान, वीज-बुद्धि, कोष्ठ-बुद्धि, पदानुसारी, संभिन्नश्रोतृत्व, दूरस्वादित्व, दूरस्पर्शत्व, दूरदर्शित्व, दूरघ्राणत्व, दूरश्रवणत्व, अभिन्नदशपूर्वित्व, चतुर्दशपूर्वित्व, अष्टाग-महानिमित्त, प्रज्ञाश्रमण, प्रत्येक-बुद्धि, वादित्व

2. विक्रिया ऋद्धि (20)

क्रिया ऋद्धि और विक्रिया ऋद्धि क्रिया ऋद्धि—चारण और आकाशगामित्व चारण ऋद्धि (8)—जघा-चारण, तन्तु-चारण, फल-चारण, आकाश-चारण, मद्य-चारण, अग्नि-चारण, मारुत-चारण, ज्योतिष-चारण विक्रिया ऋद्धि (11)—अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, इक्षित्व, वक्षित्व, अप्रतिघात, अन्तर्धान, कामरूपित्व

3 तप ऋद्धि (7)

उग्रतप, घोरतप, घोरपगक्रम, घोर ब्रह्मचर्य, तप्त तप, दीप्त तप, महातप

4. बल ऋद्धि (3)

बल-बल, वचन-बल, काय-बल

5 औषध ऋद्धि (8)

आमर्ष, क्ष्वेल, जल्ल, मल, विड्, सर्व, दृष्टिनिर्विष, आस्याविष

6 रस ऋद्धि (6)

आशीर्विष, दृष्टिविष, क्षीरसावी, मधुसावी, घृतसावी, अमृतसावी

7. क्षेत्र ऋद्धि (2)

अक्षीणमहानस, अक्षीणमहालय

● आहार के छयालीस दोष—

1 उद्गम दोष (16)

अध्यधि, अनिसृष्ट, अभिहत, आच्छेद्य, अध कर्म, उद्भिन्न, क्रीत, परावर्त, प्रादुष्कर, प्रामृत, प्रामृष्य, पूति, मालारोहण, मिश्र, बलिशेष, स्थापित

2. उत्पादन दोष (16)

घात्री, दूत, निमित्त, आजीव, वनीपक, चिकित्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ, पूर्वस्तुति, पश्चात्स्तुति, विद्या, मत्रोद्पादन, मूलकर्म

3. अशन दोष (10)

शंकित, म्रक्षित, निक्षिप्त, पिहित, सव्यवहरण, दायक, उन्मिश्र, अपरिणत, लिप्त, त्यक्त

4. संयोजना आदि (4)

संयोजना, प्रमाण, अगार, धूम

● वत्तीस अतराय-

—काक, अमेध्य, छर्दि (वमन), रुधिर, अश्रुपात, जान्वध परामर्श, जानुव्यतिक्रम, नाभ्यधोनिर्गमन, काकादिपिण्डहरण, पाणिपिण्डपतन, पाणिजन्तुवध, मासादिदर्शन, उपसर्ग, जीवसपात, भोजनसपात, उच्चार, प्रस्रवण, अभोज्यगृह प्रवेश, पतन, उपवेशन, सदश, भूमिस्पर्श, निष्ठीवन, उदरकृमिनिर्गम, अदत्तग्रहण, प्रहार, ग्रामदाह, पाद-ग्रहण, करेणकिंचित्ग्रहण, रोधन, प्रत्याख्यान-सेवना, जन्तुवध

● पंच परमेष्ठी-

● अर्हन्त-16 मूलगुण

1. अनन्त चतुष्टय (4)

अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य

2. अष्ट प्रतिहार्य (8)

अशोकवृक्ष, पुष्पवृष्टि, दुन्दुभि, सिंहासन, दिव्य-ध्वनि, तीन-छत्र, चमर, प्रभामण्डल

3. अतिशय (34)

जन्मकालीन-1 मलमूत्र रहित शरीर का होना

—2 पसीना रहित शरीर होना

—3 दूध के समान श्वेत रुधिर होना

—4 वज्रवृषभनाराच सहनन होना

—5 समचतुरस्र सस्थान होना

—6 अत्यन्त सुंदर रूप होना

- 7 अतुल्य-बल होना
 - 8 शरीर में 1008 शुभ लक्षण होना
 - 9 अति सुगन्धमय शरीर होना
 - 10 हितमितप्रिय वचन बोलना
- केवलज्ञानकालीन—1 पलक नहीं झपकना

- 2 नख व केशों का नहीं बढना
- 3 कवलाहार का नहीं होना
- 4 समस्त विधाओं का स्वामीपना होना
- 5 शरीर को छाया नहीं पड़ना
- 6 चारों ओर मुख दिखाई देना
- 7 सो योजन तक सुभिक्ष होना
- 8 उपसर्ग आदि नहीं होना
- 9 अदया का अभाव होना
- 10 आकाश में गमन होना

- देवकृत—1 अर्द्धमागधी भाषा का होना
- 2 समस्त जीवों में परस्पर मित्रता होना
 - 3 सब ऋतुओं के फल-फूल का एक साथ फलना
 - 4 पृथ्वी का दण्ड सा निर्मल होना
 - 5 सब जीवों का आनन्दमग्न होना
 - 6 भूमि का निष्कटक होना

- 7 सुगंधित जल की वृष्टि होना
- 8 चलते समय भगवान के चरणों में सुवर्ण कमलों की रचना होना
- 9 मद सुगंधित वायु का वहना
- 10 आकाश का स्वच्छ (मेघ रहित) होना
- 11 दिशाओं का निर्मल होना
- 12 आकाश में जय-जय ध्वनि होना
- 13 भगवान के आगे धर्मचक्र का चलना
- 14 छत्र, चमर आदि अष्ट मंगल द्रव्यों का साथ चलना

● सिद्ध—8 मूलगुण—

क्षायिकसम्यक्त्व, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, अव्याबाधसुख, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व, सूक्ष्मत्व

● आचार्य—(36) मूलगुण

1. तप (12)

बाह्य तप (6)—अनशन, अवमोदर्य, वृत्ति परिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, कायक्लेश

आभ्यन्तर तप (6)—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, ध्यान

2. धर्म (10)

उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम समय, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य, उत्तम ब्रह्मचर्य

3 पचाचार (5)

दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार

4 आवश्यक (6)

सामायिक, स्तुति (स्तवन), वदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग

5. गुप्ति (3)

मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति

● उपाध्याय (25) मूलगुण

ग्यारह अङ्ग और चौदह पूर्व (दे श्रुतज्ञान)

● साधु (28) मूलगुण

समिति (5)

ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण, प्रतिष्ठापन

महाव्रत (5)

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह

इन्द्रिय विजय (5)

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र-इन्द्रिय-विजय

आवश्यक (6)

सामायिक, स्तुति, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग

सात शेष गुण

अचेलकत्व, अदन्तधोवन, अस्नान, एक-भक्त, स्थिति-भोजन, केशलौच, क्षितिशयन

● कर्म-प्रकृति (8)

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय

ज्ञानावरणीय (5)

मतिज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय,
मन पर्ययज्ञानावरणीय, केवलज्ञानावरणीय

दर्शनावरणीय (9)

चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय,
केवलदर्शनावरणीय, निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि

वेदनीय (2)

साता वेदनीय, असाता वेदनीय

मोहनीय (28)

दर्शनमोहनीय—मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व

चारित्रमोहनीय कषाय (16)

अनतानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया,
लोभ, प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ, सज्वलन क्रोध, मान, माया,
लोभ

अकषाय (नो-कषाय)

हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुष वेद, नपुसक
वेद

आयु (4)

देवायु, नरकायु, तिर्यचायु, मनुष्यायु

नामकर्म (93)

गति नामकर्म—मनुष्यगति, तिर्यचगति, दवगति, नरकगति

जाति नामकर्म—एकन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय

शरीर नामकर्म—ओदारिक शरीर, वेक्रियिक शरीर, आहारक शरीर, तेजस शरीर, कार्मण शरीर

वधन नामकर्म—ओदारिक शरीर वधन, वेक्रियिक शरीर वधन, आहारक शरीर वधन, तेजस शरीर वधन, कार्मण शरीर वधन

सघात नामकर्म—ओदारिक, वेक्रियिक, आहारक, तेजस, कार्मण शरीर सघात

वर्ण—श्वेत, रुधिर, कृष्ण, नील, पीत

गन्ध—सुरभि, दुरभि

स्पर्श—कर्कश नाम, मृदक नाम, गुरुक नाम, लघुक नाम, स्निग्ध नाम, रुक्ष नाम, शीत नाम, उष्ण नाम

सस्थान—समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमंडल, स्वाति, वामन, कुब्जक, हुडक सस्थान

सहनन—वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलक, असंप्राप्तासृपाटिका

अङ्गोपाग—ओदारिक, वैक्रियिक, आहारक शरीर अङ्गोपाग

आनुपूर्वी—नरकगत्यानुपूर्वी, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, तिर्यचगत्यानुपूर्वी,

देवगत्यानुपूर्वी

विहायोगति—प्रशस्त ओर अप्रशस्तविहायोगति, अगुरुलघुनाम, उपघात, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, त्रस, स्थावर, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त, प्रत्येक-शरीर, साधारण-शरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुभग, दुर्भग, सुस्वर, दुस्वर, आदेय, अनादेय, यश.कीर्ति, अयश कीर्ति, निर्माण, तीर्थकर

गोत्रकर्म (2)

उच्चगोत्र, नीचगोत्र

अन्तराय (5)

दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय

● शलाका पुरुष (63)—

तीर्थकर (24)

ऋषभदेव, अजितनाथ, सभवनथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभु, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभु, पुष्पदन्त, शीतलनाथ, श्रेयासनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रतनाथ, नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर स्वामी

चक्रवर्ती (12)

भरत, सगर, मधवा, सनत्कुमार, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, सुभौम, महापद्म, हरिषेण, जयसेन, ब्रह्मदत्त

जेनदर्शन पारिभाषिक कोश / 279

नारायण (9)

त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयम्भू, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुण्डरीक, पुरुषदत्त, लक्ष्मण, कृष्ण

प्रतिनारायण (9)

अश्वग्रीव, तारक, मेरुक (मधु), निशुम्भ, मधुकैटभ, वलि, प्रहरण, रावण, जरासन्ध

बलभद्र (9)

विजय, अचल, सुधर्म, सुप्रभ, सुदर्शन, नन्दिषेण, नन्दिमित्र, राम, पद्म
● देवगति के देव (4)

भवनवासी देव (10)

असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, द्वीपकुमार, दिक्कुमार, उदधिकुमार, स्तनितकुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, वायुकुमार

व्यन्तर देव (8)

किन्नर, किपुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच

ज्योतिष्क देव (5)

चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारागण

वैमानिक देव

सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, सतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण, अच्युत (कल्पवासी)

नौ ग्रैवेयक

अधो ग्रैवेयक—सुदर्शन, अमोघ, सुप्रबुद्ध
मध्य ग्रैवेयक—यशोधर, सुभद्र, सुविशाल
उर्ध्व ग्रैवेयक—सुमन, सौमनस्य, प्रीतिकर

नौ अनुदिश

आदित्य, अर्चि, अर्चिमालिनी, वज्र, वैरोचन, सौम्य, सौम्यरूपक, अक,
स्फुटिक

पांच अनुत्तर

विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित, सर्वार्थसिद्धी

● श्रुतज्ञान (2)

अङ्ग-प्रविष्ट, अङ्ग-बाह्य

अङ्ग प्रविष्ट (द्वादशाङ्ग)—आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग,
व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथाङ्ग, उपासकाध्ययन, अन्तकृद्दशाङ्ग,
अनुत्तरोपपादिक दशाङ्ग, प्रश्न व्याकरण, विपाक सूत्र, दृष्टिवाद²

दृष्टिवाद (5)

परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत, चलिका

पूर्व (14)

उत्पाद पूर्व, अग्रायणी पूर्व, वीर्यानुवाद, अस्तिनास्ति प्रवाद, ज्ञान-
प्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्म-प्रवाद, प्रत्याख्यानप्रवाद, विद्यानुवाद,
कल्याणवाद, प्राणावाय, क्रिया विशाल, लोकविन्दुसार

परिकर्म (5)

चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति, द्वीपसागर-प्रज्ञप्ति, व्याख्याप्रज्ञप्ति

चूलिका (5)

आकाशगता, जलगता, मायागता, रूपगता, स्थलगता

अङ्ग बाह्य

सामायिक, चतुर्विंशति स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, वेनयिक, कृतिकर्म, दशवेकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प्यव्यवहार, कल्प्याकल्प्य, पुण्डरीक, महापुण्डरीक, निषिद्धिका आदि

● वाईस परीषह

क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्राश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, अदशन

● आसन्नवकारी क्रियाएँ

सम्यक्त्व क्रिया, मिथ्यात्व' क्रिया, प्रयाग क्रिया, समादान क्रिया, ईर्यापथ क्रिया, प्रादापिकी क्रिया, कायिकी क्रिया, अधिकरणिकी क्रिया, पारितापिकी क्रिया, प्राणातिपातिकी क्रिया, दर्शन क्रिया, स्पर्शन क्रिया, प्रात्ययिकी क्रिया, समन्तानुपात क्रिया, अनाभोग क्रिया, स्वहस्त क्रिया, निसर्ग क्रिया, विदारण क्रिया, आज्ञाव्यापादिकी क्रिया, अनाकाक्ष क्रिया, प्रारम्भ क्रिया, पारिश्राहिकी क्रिया, मिथ्यादर्शन क्रिया, माया क्रिया, अप्रत्याख्यान क्रिया ।

मुनिश्री क्षमासागर

श्रेष्ठ संत, मनीषी कवि,
प्रवचन में अपूर्व वाग्मिता,
चिन्तक, विज्ञानविद्

जन्म	20 सितम्बर 1957, सागर (म प्र)
शिक्षा	एम टेक सागर विश्वविद्यालय
पूर्वनाम	सिधई वीरेन्द्र कुमार
माता	श्रीमती आशादेवी
पिता	जीवन कुमार सिधई
कुल्लक दीक्षा	नैनागिरी, 10 जनवरी 1980
ऐलक दीक्षा	मुक्तागिरी, 7 नवम्बर 1980
मुनि दीक्षा	. नैनागिरी, 20 अगस्त 1982
काव्य संग्रह	(1) पगडंडी सूरज तक (1992) (2) मुनि क्षमासागर की कविताएँ (1996)
अनुवाद	एकीभाव स्रोत
संस्मरण	(1) अमूर्त शिल्पी (2) आत्मान्वेषी